कैसर की रामकहानी

पुस्तक-पारिजातमाला का २ रा पुष्प

कैसर की रामकहानी

(जर्मनी के परमप्रसिद्ध भूतपूर्व सम्राट् की जीवन-स्मृति का सचित्र हिन्दी अनुवाद)

अनुवादक
श्रीपारसनाथ सिंह

प्रकाशक
भारती पब्लिशर्स, लिमिटेड
पटना

प्रथमावृत्ति | १८८७ विक्रमाब्द [मूल्य १)

भूमिका

ऐतिहासिक क्षेत्र में, उन्नीसवीं सदी की कई करामातों में एक करामात यह थी कि जर्मनी में अनेकता की जगह एकता हो चली, भिन्नता की जगह राष्ट्रीयता की ध्वजा फहराने लगी, सारा यूरोप जर्मनी का लोहा मानने लगा। आस्ट्रिया को वह पहले ही पछाड़ चुका था, १८७० में फ्रान्स को पराजित कर उसने अपना नाम संसार की शक्तिशाली जातियों के रजिस्टर में दर्ज करा लिया और अपनी एकता के मार्ग की सारी विघ्न-बाधाओं को दूर कर दिया।

जर्मन साम्राज्य में प्रधानता उसके एक राज्य की हुई। इसका नाम प्रशिया था। जर्मनी के विभिन्न अंगों की एकता होने पर, प्रशिया-नरेश प्रथम विलियम ही जर्मनी के प्रथम सम्राट् हुए। उनके प्रधान मन्त्री प्रिन्स बिस्मार्क थे। यूरोप में उस समय बिस्मार्क सा प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ दूसरा न था। जर्मन साम्राज्य की संस्थापना का बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को प्राप्त था। १८७१ और १९१८ के बीच जर्मनी में तीन सम्राट् हुए:—

प्रथम विलियम—१८७१ से १८८८ तक।

तृतीय फ्रेडरिक—मार्च ९ से जून १५, १८८८ तक।

द्वितीय विलियम—१८८८ से १९१८ तक।

द्वितीय विलियम को ही संसार इस समय कैसर के नाम से जानता है और प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं की रामकहानी है।

१८८८ की ९ वीं मार्च को सम्राट् प्रथम विलियम ९१ वर्ष की अवस्था में परलोकगामी हुए। उस समय उनके पुत्र तृतीय फ्रेडरिक की अवस्था ५७ वर्ष की थी। आप ही अपने पिता की गद्दी पर बैठे, पर एक भयङ्कर रोग से पीड़ित होने के कारण अधिक काल तक राज्य न कर सके। प्रायः तीन महीने सम्राट् रह कर ही कालकवलित हुए। जून, १८८८ में उनके ज्येष्ठ पुत्र विलियम कैसर जर्मनी की गद्दी पर बैठे।

आपका जन्म २७ जनवरी १८५९ को हुआ था। तख्तनशीं होने के समय आप २९ बरस के थे। पिता और पितामह ने आपकी शिक्षा-दीक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया था। स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर युवराज विलियम बान (Bonn) विश्वविद्यालय में भरती हुए थे। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात!' इनके छात्रजीवन से ही लोगों को यह विश्वास हो चला कि इनका शासन-काल विशेष महत्वपूर्ण होगा। विलियम जैसे प्रतिभाशाली थे वैसे ही परिश्रमी थे। जो काम सामने आता उसमें जी-जान से लग जाते और उसे पूरा करके छोड़ते। इनकी महत्वाकाङ्क्षा के साथ इनका आत्मविश्वास भी बढ़ा चढ़ा था। अपनी धुन के पक्के थे, जो बात दिल में जम गयी उस पर दृढ़ बने रहे। न किसी की हाँ में हाँ मिलानेवाले थे न किसीसे दबनेवाले। बचपन से ही जर्मनी के उत्थान से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी मुख्य घटनाओं को देखते-सुनते आये थे और गद्दी पर बैठने से पहले ही इन्होंने जर्मनी के भविष्य के संबन्ध में अपने ख़ास विचार क़ायम कर लिये थे।

पिता की मृत्यु के कुछ ही घंटों के भीतर कैसर ने दो घोषणा-

पत्र निकाल कर अपनी स्थल-सेना और जल-सेना का हौसला बढ़ाया। उनका आशय थोड़े में यही था कि 'हम भक्तन के भक्त हमारे'! इससे पहले किसीने जल-सेना के प्रति किसी प्रकार का सन्देश भेजने या प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। वास्तव में यह घोषणा नये सम्राट् की नयी नीति की सूचना देने वाली थी। चार दिन बाद कैसर ने जर्मन प्रजा को सम्बोधन करते हुए एक घोषणापत्र निकाला। उसमें लिखा था कि 'मैं बराबर न्याय के मार्ग पर चलने की चेष्टा करूँगा, और दीन-दुखियों की रक्षा करने तथा ईश्वरीय आदेशों का पालन करने की ओर मेरा विशेष ध्यान रहेगा'।

आरंभ से ही यह बात स्पष्ट हो चली कि कैसर शासन करने के लिये शासक हुए थे, केवल सिंहासन को सुशोभित करने या रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिये नहीं।

सुना जाता है कि एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते। कम से कम जर्मनी के शासनक्षेत्र में, कैसर और बिस्मार्क जैसे दो शेर अधिक काल तक साथ न रह सके।

बिस्मार्क ने १८६२ में सम्राट् प्रथम विलियम के विशेष आग्रह करने पर प्रधान मन्त्री का पद स्वीकार किया था। अपनी योग्यता से उन्होंने अपने देश का स्वरूप बदल दिया। कूटनीति में उस समय बिस्मार्क की बराबरी करनेवाला कोई न था। स्वयं कैसर के हृदय में उनके प्रति कम श्रद्धा न थी। पर दोनों ही जबर्दस्त थे और दोनों में कोई, दूसरे की परितुष्टि के लिये, अपनी राह छोड़नेवाला या टस से मस होनेवाला न था। शासन की बागडोर कैसर अपने हाथ में रखना चाहते थे, बिस्मार्क अपने

हाथ में। इसलिये इन दोनों की न बन सकी। कैसर के गद्दी पर बैठने के प्रायः दो ही बरस बाद बिस्मार्क को पदत्याग करना पड़ा। कहने के लिये उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया, पर यथार्थ में कैसर ने उन्हें प्रधान मंत्री के पद से अलग कर दिया।

बिस्मार्क से इस अवसर पर जो व्यवहार किया गया वह अत्यन्त अनुचित था। जिस मकान में वह बरसों से रहते आते थे उसे उन्हें कुछ ही घंटों के भीतर खाली करना पड़ा। मंत्रियों को तीन महीने की तनख्वाह एक साथ मिलने का नियम था। बिस्मार्क को जनवरी, फरवरी और मार्च की तनख्वाह १ली जनवरी को मिल चुकी थी। इस्तीफा उन्हें देना पड़ा २० मार्च को, इसलिये ११ दिन अर्थात् २१ से ३१ मार्च तक की तनख्वाह का रुपया उन्हें सरकारी खज़ाने में लौटाना पड़ा। यह कृतघ्नता थी, नीचता की पराकाष्ठा थी। जिसके हाथों जर्मन साम्राज्य गढ़ा गया, जिसकी प्रतिभा ने जर्मनी को अवनति के गढ़े से उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया, उसीको ११ दिन का मिला हुआ वेतन लौटाने को मजबूर किया गया। कैसर की रामकहानी में इस प्रसंग का उल्लेख तक नहीं है। वास्तव में वह अपनी सफाई दे भी न सकते थे।

बिस्मार्क बर्लिन छोड़ कर अपने घर चले गये और वहीं आठ बरस बाद उनकी मृत्यु हुई। जिस समय वह बर्लिन से बिदा हो रहे थे, उस समय का दृश्य वर्णनातीत है। जान पड़ता था मानो सारे नगर में आँसुओं का समुद्र उमड़ पड़ा है। बिस्मार्क का शेष जीवन बड़े दुःख से व्यतीत हुआ। यों तो उनके घर पर बड़े से बड़े लोग आते रहते थे, जर्मन जाति के लिये उनका गाँव

तीर्थस्थान सा बन गया था, दिन रात ख़ासी चहल-पहल रहती थी—पर उनके लिये ये सारी बातें नीरस थीं, इनसे उनका कुछ भी परितोष न हो सकता था। अपने दिल में जो घाव लेकर वह बर्लिन से चले थे, वह बराबर हरा ही बना रहा। जी बहलाने के लिये उन्होंने अपनी जीवन-स्मृति लिखी, दिल के फफोले फोड़ने के लिये वह कुछ काल तक अखबारों के कालम काले करते रहे—पर किसी प्रकार मन को शान्ति न मिली, कलेजा ठंडा न हुआ। ३० जुलाई १८९८ को, ८३ वर्ष की अवस्था में वह इस संसार से चल बसे और क़ब्र पर खोद देने के लिये आप ही यह परिचय-पंक्ति छोड़ गये कि 'सम्राट् प्रथम विलियम का सच्चा सेवक' !

कैसर को बिस्मार्क के उत्तराधिकारियों में उनके जोड़ का प्रधान मंत्री कोई न मिला। मिलता तो वह अधिक काल तक अपनी जगह पर ठहरता भी नहीं। १८८८ और १९१४ के बीच पाँच प्रधान मंत्री या चैन्सलर आये-गये। इनमें किसी को कैसर का पूर्ण सहयोग न प्राप्त हो सका। वह मन्त्रिमंडल या पार्लमेंट की बात सुनते भी थे तो बहुत कम। किसी को यथेष्ट स्वतंत्रता न देते थे। थोड़े में उनकी नीति यह थी कि 'मुल्क का बादशाह मैं हूँ, जो कुछ होगा मेरी मर्ज़ी से' ! जर्मनी के इतिहास पर उनके व्यक्तित्व की छाप पड़े बिना कब रह सकता था !

राजनीति के क्षेत्र में अनुदार होते हुए भी कैसर ने जर्मनी की आर्थिक उन्नति की दिशा में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य्य किया। इस संबंध में कुछ आँकड़े देने की ज़रूरत है। १८७० में, एक

लाख से ऊपर की आबादी के नगरों की संख्या सिर्फ ८ थी। इसमें इस प्रकार वृद्धि होती गयी:—

१८८०—१४
१८९०—२६
१९००—३३
१९१०—४८

१८७० में बर्लिन की आबादी ८ लाख के क़रीब थी। १९१० में यह २० लाख तक पहुँच गयी थी। इसी प्रकार सारे जर्मन साम्राज्य की आबादी ४ करोड़ १० लाख से ६ करोड़ ५० लाख तक जा पहुँची थी। शहरों की आबादी बढ़ने का मुख्य कारण उद्योग-धंधों का विस्तार था। ज्यों-ज्यों नये कारखाने खुलने लगे, लोग देहात छोड़ कर शहरों में बसने लगे। कुछ ही बरसों में जर्मनी, कृषिप्रधान देश से यन्त्रप्रधान देश हो चला। १८७० में सैकड़े ६४ आदमी गाँवों में रहते थे। १९१० में सैकड़े सिर्फ ३३ आदमी गाँवों में बच गये थे। प्राय: प्रत्येक व्यवसाय में जर्मनी ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली। संसारभर में उसके कल-कारख़ानों का माल मशहूर हो चला। इंगलैंड जैसे व्यवसायी देशों के लिये जर्मनी की इस बढ़ती हुई प्रतियोगिता ने एक भयङ्कर समस्या खड़ी कर दी।

जर्मनी के इस बल-विस्तार का मुख्य कारण वहाँ की सरकार का इस बात के लिये कटिबद्ध हो जाना था। राष्ट्रीय नीति से राष्ट्र का थोड़े ही समय में कायापलट हो जाता है। जर्मनी में भी ऐसा ही हुआ। कोयला और लोहा दोनों ही खनिज पदार्थों की प्रचुरता होने के कारण इस कार्य्य में और भी सहायता

पहुँची। जर्मनी के आधुनिक इतिहास में व्यवसाय और विज्ञान के पूर्ण सहयोग का उल्लेख करना भी आवश्यक है। वैज्ञानिक प्रयोग या गवेषणा वहाँ उद्योग-धंधे का अभिन्न भाग समझी जाती है। वहाँ के कल-कारखाने वाले विज्ञान का महत्त्व खूब समझते हैं और उससे लाभ उठाने के लिये बराबर तैयार रहते हैं। एक जर्मन कारख़ाने में सत्तर वैज्ञानिक गवेषणा के कार्य्य में लगे हुए थे। उसके मालिक से किसी यात्री की इस विषय में बातें हुईं तो उसने कहा कि इन सत्तर वैज्ञानिकों को रखने के कारण हमारा हर साल साढ़े तीन लाख फ्रैंक खर्च होता है। दस में से नौ वैज्ञानिकों का रखना निष्फल होगा, पर संभव है दसवाँ कोई ऐसी चीज़ पा जाय जिससे हम मालामाल हो जायँ। जर्मनी के मिल-मालिकों की मनोवृत्ति का यह अच्छा उदाहरण है।

वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति के साथ जर्मनी को और चीज़ों की ज़रूरत महसूस होने लगी। उसके पास पहले कोई जहाज़ी बेड़ा न था। कैसर ने इस बात पर ज़ोर देना शुरू किया कि जर्मनी के लिये जल-सेना का प्रश्न जीवन-मरण का प्रश्न है और कुछ ही समय में उन्होंने इस दिशा में भी जर्मनी की ऐसी बलवृद्धि कर दी कि इंगलैंड और अमेरिका उसे देखकर चिन्ता-नल से जलने लगे। कैसर ने उपनिवेशों के प्रश्न को राष्ट्रीय रूप प्रदान कर दिया। जर्मनी का कहना था कि संसार में जितने स्थान उपनिवेशों के लिये उपयुक्त थे उन्हें इँगलैंड, फ्रान्स आदि देश पहले ही अपने अधिकार में कर चुके हैं, फिर हम अपने पाँव कहाँ पसारें? छल और बल दोनों के सहयोग से इस विषय

में भी जर्मनी को थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हो ही गयी और कई अच्छे उपनिवेश उसे हाथ लग ही गये।

कैसर ने जर्मनी के लिये बहुत कुछ किया, फिर भी महासमर का परिणाम उनके और उनके परिवार के लिये अत्यन्त भयंकर सिद्ध हुआ। ज़ार की अपेक्षा वह बहुत अच्छे रहे, पर राज-सिंहासन को उन्हें सलाम करना पड़ा और देश छोड़कर विदेश में शरण लेनी पड़ी। इस समय वह हालैंड के डूर्न (Doorn) नामक स्थान में रहते हैं। उन्होंने फिर से जर्मनी का सम्राट् कहलाने का हौसला छोड़ दिया हो यह बात नहीं है, पर जर्मन जनता उनका स्वागत करने या उन्हें तख़्त पर बैठाने के लिये अपना खून बहाने को तैयार नहीं है, इसलिये उनकी या उनके कट्टर अनुयायियों की यह आशा दुराशामात्र है कि जर्मनी में, वह या उनके वंशज, फिर राजदण्ड धारण कर सकेंगे।

दो शब्द इस पुस्तक के विषय में भी। कैसर की जीवन-स्मृति का यह संक्षिप्त हिन्दी रूप है। अनावश्यक अंशों को छोड़ इसमें मूल का भाव देने की पूरी चेष्टा की गयी है और इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि काट-छाँट करने में कहीं 'रग पर नश्तर' न लग जाय।

कैसर की सभी बातों से सहमत होना असंभव है। घरेलू बातों का वर्णन करते समय उन्होंने अपने को सर्वथा निर्दोष बताया है, पर इतिहास इस विषय में उनका समर्थन नहीं करता। उन्होंने कुछ ऐसा मिजाज पाया था कि बहुतों की उनसे न बनी और जर्मनी की उन्नति में यह मतभेद या असहयोग बहुत कुछ बाधक हुआ। फिर भी कैसर की बातें सुनने लायक हैं। आधु-

निक राजनीति की यथार्थता समझने में उनसे अच्छी सहायता मिलेगी। पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण अंश महासमर-सम्बन्धी है। वास्तव में उसीके संबन्ध में अपनी और अपने देश की सफाई देने के लिये उन्होंने यह पुस्तक लिखी है। शत्रुओं की नीति-रीति के विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह प्रायः सत्य है। कैसर स्वयं दूध के धुले हुए थे यह हम नहीं कह सकते, पर यह कहना कि उस अग्निकांड के लिये एकमात्र जर्मनी दोषी था, सत्य की हत्या करना है। इधर युद्ध-संबन्धी खासा साहित्य तैयार हो गया है। उससे यह अच्छी तरह प्रमाणित है कि युद्ध के जो कारण उस समय बताये गये थे वे उसके असली कारण न थे। गुप्त रीति से प्रत्येक महाशक्ति उसके लिये बरसों से तैयारियाँ कर रही थी। कैसर का यह कहना बिलकुल ठीक है कि जर्मनी व्यवसाय-क्षेत्र में इँगलैंड को कई जगह पछाड़ चुका था, इसलिये वह उसकी आँखों में काँटे के समान चुभ रहा था। सत्य और न्याय की दुहाई संसार को आँखों में धूल झोंकने के लिये थी। सब अपना अपना स्वार्थ देख रहे थे और उसीके लिये लड़ रहे थे। अमेरिका का भाव भी उतना पवित्र न था जितना राष्ट्रपति विल्सन की बातों से उस समय जान पड़ा था। अमेरिका के पूँजीपति इँगलैंड और फ्रान्स को करोड़ों डालर कर्ज दे चुके थे और देते जा रहे थे। इनकी हार से उनका सर्वनाश था। अमेरिका मित्र-शक्तियों के लिये आडर सप्लाई का काम कर योंही मालामाल हो रहा था, पर वहाँ की सरकार को पीछे यह चिन्ता होने लगी कि अगर जर्मनी की जीत हो गयी तो हम इँगलैंड और फ्रान्स से

अपनी रकम कैसे वसूल करेंगे। बस, अमेरिका भी उनकी ओर आ गया।

किसीने कहा है कि युद्ध की घोषणा हो जाने पर सबसे पहले सत्य की जान जाती है। मित्र-शक्तियों ने इस उक्ति को चरितार्थ करने में कमाल कर दिया। संसार भर में उन्होंने असत्य का प्रचार इस खूबी से किया कि आज असलियत मालूम होने पर लोगों के आश्चर्य्य का ठिकाना नहीं रहता। आधी लड़ाई तो उन्होंने अपने इस प्रचार-आन्दोलन या प्रोपेगैंडा से जीत ली।

महासमर के रंगमंच पर 'पार्ट' करनेवालों में कैसर की बराबरी करनेवाला कोई न था। इस पुस्तक में आप आज उन्हीं की जुबानी यह सुन सकेंगे कि लड़ाई के बीज कैसे बोये गये और उसकी फ़सल कैसे काटी गयी; आजकल की राजनीति में झूठ-फरेब, छल-प्रपंच का क्या स्थान है और उसका इस लड़ाई में क्या उपयोग किया गया; कैसर को जर्मनी का राजसिंहासन छोड़कर दूसरे देश में क्यों शरण लेनी पड़ी; राष्ट्रपति विल्सन से अपना काम निकाल कर इँगलैंड और फ्रान्स ने उन्हें किस तरह धोखा दिया और चूसे हुए गन्ने की तरह अलग फेंक दिया; पहले मीठी मीठी बातें कर पीछे सन्धि के समय, जर्मनी को किस तरह शर्तों से जकड़बन्द कर बरसों के लिये बेकार कर दिया गया। हमें आशा है कि पाठकों को यह पुस्तक मनोरंजक और शिक्षाप्रद जँचेगी।

पारसनाथ सिंह

विषय-सूची

चित्र-सूची

कैसर

(जर्मनी के भूतपूर्व सम्राट्—द्वितीय विलियम)

कैसर की रामकहानी

पहला अध्याय

बिस्मार्क

प्रिन्स बिस्मार्क अपने समय के अनन्य राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने अपने देश, अपनी जाति के लिये जो कुछ किया वह ऊँचे से ऊँचे दर्जे की सेवा थी—इतिहास में उसे अमरत्व प्राप्त हो चुका है। कोई भी ऐसा मनुष्य न होगा जिसे उनकी सेवाओं का महत्व स्वीकार न हो। फिर मुझ पर यह दोषारोपण करना कि मैंने इस हीरे की क़द्र नहीं की, बेहूदगी नहीं तो और क्या है! सच तो यह है कि मेरे हृदय में बिस्मार्क के प्रति अपार श्रद्धा और भक्ति थी। हम सब उन्हें जर्मन साम्राज्य का संस्थापक मानते थे और हमें इस बात का अभिमान था कि ऐसा प्रतिभाशाली पुरुष हमारे देश में पैदा हुआ था। बिस्मार्क मेरे आराध्यदेव थे और मैं उन्हें अपनी भक्ति-कुसुमांजलि का अधिकारी समझता था।

पर सम्राट् भी आख़िर मनुष्य होते हैं, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे निर्लेप या निर्विकार बने रहेंगे। दूसरों के बर्ताव का उन पर असर पड़े बिना नहीं रह सकता। बिस्मार्क ने मुझसे लड़ाई ठान कर मेरे लिये उनका आराधक बने रहना असं-

भव कर दिया। उनके ही प्रहारों से मेरे मन-मन्दिर की प्रतिमा चूर चूर हो गयी—मैं अब आराधना करता तो किस की ? हाँ, इतना मैं अवश्य कहूँगा कि यह सब होते हुए भी उनके प्रति मेरी श्रद्धा पूर्ववत् ही बनी रही।

जब मैं युवराज था तब मैं प्रायः मन ही मन कहा करता:— 'ईश्वर करे बिस्मार्क दीर्घायु हों ! मुझे ऐसा प्रधान मंत्री मिले तो मैं अपने को निरापद समझूँगा'। पर सम्राट् होने पर मैंने देखा कि मैं उनकी नीति का पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता। जहाँ मैं समझता कि उनसे भूल हो रही है वहाँ मैं उनके इच्छानुसार चलने को तैयार न होता। फिर मुझे अपने देश की शासनपद्धति में भी धीरे धीरे दोष या त्रुटियाँ नज़र आने लगीं। यह एक ऐसी भारी भरकम चीज़ थी जिसका बोझ सम्हालना बिस्मार्क के लिये तो आसान था, पर सब के लिये नहीं।

इसी बीच एक वाद-विवाद चल पड़ा। मजूरों की हित-रक्षा के लिये जो क़ानून बनाये गये थे, उनका साम्यवादियों ने घोर विरोध किया। बिस्मार्क की इच्छा थी कि मैं उन विरोधी साम्यवादियों पर धावा बोल दूँ ! पर मैं समझौते के पक्ष में था। सदा से मेरी यही नीति रही है। पर इस प्रकार का मतभेद या विरोध होते हुए भी मैं बिस्मार्क का भक्त बना रहा। आज भी मेरा वही भाव है। जर्मन साम्राज्य के जन्मदाता होने का गौरव किसी को प्राप्त है तो प्रिन्स बिस्मार्क को—इससे अधिक उनकी प्रशंसा में क्या कहा जा सकता है ! अगर एक मनुष्य अपने देश का इतनी सेवा कर दे तो उसके लिये और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

मैं अपने पितामह के उत्तराधिकारीस्वरूप गद्दी पर बैठा था। इस कारण मुझे प्राय: ऐसे वयोवृद्ध मंत्रियों से काम पड़ा जिनकी रीति-नीति पुरानी हो चली थी, समय के अनुकूल न थी। ये लोग अतीत के उपासक थे, कम से कम इनकी नज़र जितनी भूतकाल की ओर थी उतनी भविष्य की ओर नहीं। नौजवान राजा और बूढ़े मंत्री का यह संयोग देश की दृष्टि से सन्तोषजनक न था।

ज़माना बदल चुका था, परिस्थिति नयी हो चली थी, पर बिस्मार्क की समझ में यह बात आती ही नहीं थी। बालिन ने जब एक दिन उनका ध्यान हैम्बर्ग के बन्दरगाह की ओर आकृष्ट किया तब उन्हें स्वयं जान पड़ा कि एक नये युग का आरंभ हो चुका था, फिर भी उनका दृष्टिकोण पुराना ही बना रहा। व्यापार की दृष्टि से समुद्र का क्या महत्व है, अपने हितों की रक्षा के लिये जलसेना की कैसी आवश्यकता है—ऐसे प्रश्नों को वह और ही दृष्टि से देखते थे। हैम्बर्ग के बन्दरगाह को देख कर वह आश्चर्य्यचकित हो गये थे और उनके मुँह से यही शब्द निकले थे कि यह तो और ही दुनिया नज़र आ रही है!

मुझे आज यह स्मरण कर परम सन्तोष होता है कि १८८६ में बिस्मार्क ने मुझे बड़ी जिम्मेदारी का एक काम सौंपा था और कहा था कि एक दिन यह शख़्स आप ही अपना प्रधान मंत्री होगा। इससे जान पड़ता है कि मेरी योग्यता में उनका कुछ विश्वास ज़रूर था।

उन्होंने अपनी जीवनस्मृति में मेरे संबंध में जो कुछ लिखा है उसकी मैं कोई शिकायत नहीं करता। मेरी कृतज्ञता में इससे कुछ भी फ़र्क नहीं पड़ सकता।

प्रिन्स बिस्मार्क के आदेशानुसार मेरी राजनैतिक शिक्षा-दीक्षा पर-राष्ट्र-विभाग से आरंभ हुई। यह १८८२ के लगभग की बात है। मुझे एक अलग कमरा मिला और जर्मनी तथा आस्ट्रिया की सन्धि से सम्बन्ध रखनेवाले कागज़ात मेरे अध्ययन करने के लिये वहाँ रख दिये गये। उस समय इस विभाग के संचालक प्रिन्स बिस्मार्क के पुत्र काउन्ट हर्बर्ट बिस्मार्क थे। मैं दोनों से मिलने उनके घर जाया करता और दोनों से ही मेरी घनिष्टता हो चली।

पर-राष्ट्र-विभाग में काउन्ट हर्बर्ट का अनुशासन बड़ा कठोर था। कर्म्मचारियों के साथ वह बड़ी सख्ती से पेश आते थे। सच पूछा जाय तो इस विभाग की स्वतंत्रता नहीं के बराबर थी। इसे प्रिन्स बिस्मार्क के इशारे पर नाचना पड़ता था। जो कुछ उनका आदेश होता उसीका इसे पालन करना पड़ता। किसी को यह भी न मालूम होता कि आज कोई चाल क्यों चली गयी और कल क्यों बदल दी गयी। स्वतंत्र विचार के योग्य से योग्य व्यक्तियों के लिये भी यहाँ स्थान न था।

जब जर्मनी ने पहले पहल कुछ उपनिवेश—पोपो, टोगो इत्यादि—प्राप्त किये तब मैंने प्रिन्स के पूछने पर बताया कि जनता में इस समाचार से आनन्द और उत्साह का सागर उमड़ पड़ा था। सुन कर बोले कि ऐसी कौनसी बात है?

उपनिवेशों के संबंध में फिर एक दिन उनसे बातें हुईं। मैंने देखा कि इस विषय में उनका दृष्टिकोण और ही था। वह इस सारे प्रश्न को आर्थिक नहीं, राजनैतिक दृष्टि से देखते थे। वह इन उपनिवेशों का अपनी ही चालों में उपयोग करने का विचार रखते

थे—उनके कच्चे माल से अपने उद्योग-धंधों की उन्नति करने या उनकी सहायता से अपने देश को और भी समृद्धिशाली बनाने का नहीं।

मैंने एक दिन अर्ज़ किया कि—'अपना व्यापार बढ़ रहा है, अपने उपनिवेशों की आश्चर्यजनक उन्नति हो रही है, पर अपने हितों की रक्षा के लिये जर्मनी के पास कोई जलसेना नहीं है'। पर उन्होंने मेरी बात पर ध्यान न दिया। बोले कि जहाज़ी बेड़े की जरूरत ही क्या है? अगर अंगरेज़ कभी हमारी ज़मीन पर पैर रखने का दुस्साहस करेंगे तो मैं एक एक को गिरफ़्तार करा लूँगा।' नये विचार के लोगों को यह तर्क ज़रा भी पसन्द न था। उनका कहना था कि अँगरेज़ों के लिये जर्मनी में पैर रखना संभव ही क्यों हो? जर्मनी को ज़रूरत थी प्रबल जहाज़ी बेड़े की और हेलीगोलैंड की, जिससे उस पर समुद्र-मार्ग से कोई आक्रमण न हो सके। बिस्मार्क, अंगरेज़ों के पहुँच जाने के बाद उन्हें दण्ड देने के लिये तैयार बैठे थे, पर हम लोग तो उनका पहुँचना ही असंभव कर देना अपना प्रथम कर्तव्य समझते थे।

बिस्मार्क को जितनी फ़िक्र बाकी यूरोप की थी उतनी इंगलैंड की नहीं। रूस, आस्ट्रिया, इटली और रूमानिया की ओर उनका विशेष ध्यान रहता था। जर्मनी के साथ इनमें कौन किस तरह पेश आ रहा है, आपस में इनकी कैसी बीत रही है, इन बातों को जानने के लिये वह बहुत उत्सुक रहते थे। सम्राट् विलियम को किसी ने एक बार सलाह दी कि जब बिस्मार्क ऐसे निरंकुश हो रहे हैं तब आपको उन्हें हटा देना उचित है। सम्राट् ने उत्तर दिया कि यह बात मेरे मन में भी आ चुकी है, पर क्या

करूँ, बिना बिस्मार्क के न तो मेरा काम चल सकता है, न मेरे देश का। वही एक ऐसा शख़्स है जो पाँच गेंदों को एक साथ नचा सकता है। यह नट-विद्या मुझे भी नहीं आती।' पाँच गेंदों से सम्राट् का अभिप्राय उन पाँच देशों से था जिनके नाम ऊपर आ चुके हैं। बिस्मार्क की राजनीति-निपुणता वास्तव में ऐसी ही थी।

पर इंगलैंड को वह सिर्फ़ पाँच गेंदों में से एक समझते थे, उनके लिये इसकी कोई विशेषता न थी। उन्हें इस बात की ख़बर न थी कि जर्मन उपनिवेशों की संख्या-वृद्धि के कारण, हमें एक दिन यूरोप से ध्यान समेट कर सिर्फ़ इंगलैंड से बातें करनी होंगी। इस कारण पर-राष्ट्र-विभाग इंगलैंड-संबंधी बातों से बहुत कुछ अनभिज्ञ था। उपनिवेश, जलसेना या इंगलैंड की नीति—इन प्रश्नों का महत्व समझनेवाला वहाँ कोई न था। अंगरेज़ों की मनोवृत्ति क्या थी, अंगरेज़ किस प्रकार प्रच्छन्न रूप से सारे संसार को अपनी मुट्ठी में करने की चेष्टा कर रहे थे, इसकी हमारे पर-राष्ट्र-विभाग को कुछ भी जानकारी न थी। मुझे तो बहुत पहले यह साफ़ साफ़ दिखने लगा था कि जर्मनी के पास जलसेना न होने और हेलीगोलैंड पर इंगलैंड का अधिकार होने के कारण, हम लोग परावलम्बी या पराधीन थे। उपनिवेश भी हमें इंगलैंड की स्वीकृति के बिना न मिल सकते थे।

मेरे माता-पिता और बिस्मार्क के बीच सौहार्द न था। इस लिये मेरे घरवालों को मेरी और बिस्मार्क की घनिष्टता नागवार गुज़रती थी। उनका ख़याल था कि मुझ पर इसका बुरा असर पड़े बिना न रहेगा। बिस्मार्क से मिलने-जुलने के कारण मुझे

माता-पिता के प्रेम से, कुछ अंश में, वञ्चित होना पड़ा, पर क्या करता, इसका कोई इलाज न था। मन की बात मन ही में रखनी पड़ी।

काउन्ट हर्बर्ट बिस्मार्क से मेरी खूब बनती थी, पर हार्दिक मित्रता हम दोनों के बीच कभी न हो सकी। पिता के अवसर प्राप्त करते ही वह आये और बोले कि मेरा इस्तीफा भी मंजूर किया जाय। मैंने बहुत समझाया कि अभी मेरे साथ रहो और नीति-परम्परा की रक्षा करने में मेरी सहायता करो, पर उन्होंने एक न सुनी। बोले कि पिता की मातहती में काम करने का अभ्यास पड़ गया है, इसलिये यह संभव नहीं कि मैं दूसरे की मातहती में काम कर सकूँ।

ज़ार निकोलस (द्वितीय) के बालिग होने के अवसर पर मुझे बिस्मार्क के इच्छानुसार सेंट पिटर्सबर्ग जाना पड़ा था। क्रान्तिकारियों के हाथ मारे जानेवाले यही ज़ार थे। सम्राट् और मंत्री दोनों ने मुझे विदा होने से पहले रूस के संबन्ध में बहुत सी बातें बतायीं और आचार-व्यवहार के विषय में बहुत कुछ उपदेश दिया। रूस में मैंने जो कुछ देखा-सुना उसकी रिपोर्ट दोनों के पास भेज दी। इसमें मैंने स्पष्टवादिता से काम लिया। मेरे देखने में आया कि रूस का भाव बहुत कुछ बदल गया था, जर्मनी से स्नेह का बन्धन ढीला हो चला था। मैंने अपनी रिपोर्ट में इसका उल्लेख कर दिया। मेरे पितामह और प्रिन्स बिस्मार्क ने मेरे लौटने पर इसके लिये मेरी बड़ी प्रशंसा की।

१८८६ में प्रिन्स बिस्मार्क ने मुझे ज़ार अलेक्जैन्डर (तृतीय) के पास यह सन्देश पहुँचाने का काम सौंपा कि अगर आप

कुस्तुन्तुनिया ले लेना चाहते हैं तो खुशी खुशी ले लें, हमारी ओर से कोई भी विघ्नबाधा न डाली जायगी। ज़ार से इस संबन्ध में मेरी बातें हुई, पर मैं कृतकार्य न हुआ। उन्होंने तिरस्कार-भरे शब्दों में यही कहा कि अगर मैं कुस्तुन्तुनिया लेना चाहूँगा तो ले लूँगा—इसमें प्रिन्स बिस्मार्क की अनुमति या स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं है। मैंने ज़ार का उत्तर प्रिन्स बिस्मार्क के पास पहुँचा दिया।

रूस में जब मैं पहली बार गया था तब वहाँ के प्रभावशाली पुरुषों का व्यवहार और ही पाया था। इस यात्रा में मुझे उनके—विशेष कर सेनानायकों के—भाव में बड़ा अन्तर प्रतीत हुआ। कुछ पुराने जनरल तो अब भी जर्मनी के मित्र बने हुए थे, पर अधिकांश लोगों के भाव में परिवर्तन हो चुका था। इसका कारण यह था कि बर्लिन की कांग्रेस के कारण जर्मनी और रूस की मित्रता नष्ट हो चुकी थी। रूसवाले बिस्मार्क की नीति से इतने असन्तुष्ट हो गये थे कि जहाँ-तहाँ बदला लेने की बात भी चल रही थी। फ्रेंच अफ़सर उनकी क्रोधाग्नि में घी की आहुति देते गये और उसे कभी शान्त होने न दिया।

मैंने देश लौटकर अपने पितामह को सारी परिस्थिति समझा दी। वह ज़रा भी उत्तेजित न हुए। ज़ार के साथ उनका पुराना संबंध ज्यों का त्यों बना रहा—दोनों की मित्रता में कभी फ़र्क़ न पड़ा। प्रिन्स बिस्मार्क ने मेरी रिपोर्ट की प्रशंसा करते हुए मुझे बधाई भेजी और अपनी कृतज्ञता प्रकट की। इस पर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। क्योंकि मेरी रिपोर्ट में, बर्लिन की कांग्रेस का नतीजा यह बताया गया था कि रूस जर्मनी का दुश्मन होता जा

रहा है। यह प्रिन्स बिस्मार्क की नीति की एक तरह से निन्दा थी। रूस में एक वयोवृद्ध जनरल से मेरी इस संबन्ध में बातें हुई थीं। उसने जर्मनी और रूस के बीच बढ़ते हुए वैमनस्य की चर्चा छिड़ने पर कहा था—"यह उसी सत्यानाशी *बर्लिन-कांग्रेस का फल है। प्रिन्स बिस्मार्क ने बड़ी भूल की। मित्र को

---

* बिस्मार्क अच्छी तरह जानते थे कि फ्रान्स १८७० को कभी भूल नहीं सकता और वह जर्मनी से बदला लेने के लिये कुछ भी उठा न रक्खेगा। इसलिये उन्होंने कूट-नीति का आश्रय लेकर रूस और आस्ट्रिया के साथ ऐसा समझौता कर लिया जिससे फ्रान्स को उनकी सहायता न मिल सके। पर यह समझौता अधिक काल तक न ठहर सका। १८७६ और १८७८ के बीच बाल्कन-प्रदेश में ऐसी परिस्थिति हो गयी कि बिस्मार्क ने अपना रुख बदल दिया। रूस और आस्ट्रिया दोनों ही बाल्कन-प्रदेश में अपना अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। रूस ने बिना किसी की सहायता के टरकी को परास्त कर इसके साथ ऐसी सन्धि कर ली जो सर्वथा उसके अनुकूल थी। अन्य महाशक्तियों को यह सन्धि आपत्ति-जनक जँची और उनकी ओर से इस बात पर ज़ोर दिया जाने लगा कि सारे प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस में पुनर्विचार हो। इसीके फलस्वरूप १८७८ में 'बर्लिन-कांग्रेस' हुई। उसके अध्यक्ष स्वयं बिस्मार्क थे। १२ जुलाई को नये सन्धि-पत्र पर सबके हस्ताक्षर हुए। बाल्कन-प्रदेश के शासन की नयी व्यवस्था की गयी, कहना चाहिए कि उसका नये सिरे से बटवारा हुआ। जर्मनी के प्रभाव के कारण इस कांग्रेस में आस्ट्रिया का पक्षपात किया गया। यह बात रूस को बेतरह खटकी। वह खुल्लमखुल्ला कहने लगा कि बिस्मार्क ने उसके साथ विश्वासघात किया। जर्मनी के लिये इसी कांग्रेस में आस्ट्रिया के साथ मित्रता और रूस के साथ शत्रुता का बीज बोया गया। —अनुवादक

शत्रु बना लिया और हमारी सेना के हृदय में अपनी नीति के कारण प्रतिशोध का भाव उत्पन्न कर दिया। आज हमारा फ्रान्स से चोली-दामन का संबन्ध हो रहा है, और इसके फलस्वरूप रूसमें जर्मनी के प्रति घृणा ही नहीं बढ़ रही है बल्कि ऐसे क्रान्तिकारी भाव भी फैल रहे हैं जो—आपके देश से युद्ध छिड़ने पर—हमारे राजवंश के विनाश के कारण होंगे।" यह उस अनुभवी जनरल की भविष्यवाणी थी जो अक्षरशः सत्य निकली। मैं तो इसे आज तक न भूल सका।

१८९० में ज़ार से मिलने पर, मुझे उन्हें प्रिन्स बिस्मार्क के पद-त्याग का विवरण सुनाना पड़ा। ज़ार बहुत ध्यानपूर्व्वक सुनते रहे। यों तो वह शान्त स्वभाव के थे और राजनीति की चर्चा से प्रायः बचते थे, पर यह समाचार सुन कर कुछ आवेश में आ गये और मेरा हाथ थाम कर पहले तो मुझे धन्यवाद दिया कि मैंने उन्हें विश्वासपात्र समझ कर सारी बात कह सुनायी थी, फिर इसके लिये खेद प्रकट किया कि मुझे ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा था। अन्त में बोले-"मैं आपके इस कार्य्य को अच्छी तरह समझता हूँ। प्रिन्स बिस्मार्क महापुरुष होते हुए भी आखिर आपके कर्म्मचारी थे। जब उन्होंने आपका आज्ञापालन करना अस्वीकार कर दिया, तब आपके लिये उन्हें हटाना अनिवार्य्य हो गया। मेरा तो उन पर रत्ती भर भी विश्वास न था। उनके हट जाने से इतना तो ज़रूर होगा कि हम दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध पहले की अपेक्षा कहीं सन्तोषजनक रहेगा—हम एक दूसरे का अविश्वास न करेंगे। मैं आपकी ओर से निश्शङ्क हूँ। आप भी मेरा पूरा विश्वास कर सकते हैं।" मालूम नहीं असलियत

क्या थी—ज़ार ने किस उद्देश से ऐसा कहा—पर इतना मैं ज़रूर कहूँगा कि मरते दम तक उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। रूस की नीति में साधारणतः कोई फ़र्क भले ही न पड़ा हो, पर जर्मनी के लिये उस ओर से कोई ख़तरा न था। द्वितीय अलेक्जैन्डर दिल के साफ़ और ज़बान के पक्के थे, इसलिये जब तक वह इस संसार में रहे, रूस की नीति में कोई परिवर्तन न हुआ। पर उनके कमज़ोर लड़के के समय में अवस्था बदल गयी।

जब तक मैं युवराज रहा, मैंने राजनैतिक दलबन्दी को अपने पास फटकने न दिया। मैं विभिन्न सैनिक विभागों में काम करता था, और मेरा सारा ध्यान अपने काम की ओर था। उस समय के मेरे जीवन-क्षेत्र में और बातों के लिये स्थान ही न था। मुझे एक दल से चाय पीने का निमन्त्रण मिलता तो दूसरे दल से उसके किसी जलसे में शरीक होने का। पर मैं इन चालों को समझ जाता और ऐसा प्रत्येक निमन्त्रण अस्वीकार कर देता। कोई दल मुझे अपने जाल में न फँसा सका।

अपने पिता तृतीय फ्रेडरिक के भयङ्कर रोग का मुझे पूरा पता था। जर्मन डाक्टरों ने मुझे उनके रोग की असाध्यता की सूचना दे दी थी। मुझे विशेष दुःख इस बात का था कि ऐसी स्थिति में भी मैं उनसे अकेला न मिल सकता था। अंगरेज़ डाक्टरों से वह दिनरात घिरे रहते थे और कहना चाहिए कि उनके बीच में क़ैदी हो रहे थे। मैं उनसे मिलना चाहता तो मेरे मार्ग में तरह तरह के रोड़े अटका दिये जाते—यहाँ तक कि मैं पत्र द्वारा भी उनका कुशल-समाचार न पूछ सकता। कई बार ऐसा हुआ कि मेरा ख़त उन तक पहुँच ही न सका, रास्ते में ही उसे किसी ने रोक रक्खा।

इसी समय कुछ अखबारों में मेरे विरुद्ध लेख पर लेख निकलने लगे। इस काम में दो लेखकों का ख़ास तौर से हाथ था। मेरा ऐसा चित्र संसार के सामने रक्खा जाता था जिसका वास्तविकता से कुछ भी संबन्ध न था। मेरे विरुद्ध निकलनेवाली बे-सिर-पैर की बातों में एक यह थी कि युवराज की अपने पिता से अनबन है। जले पर नमक छिड़कना इसी को कहते हैं।

पिता की बीमारी के निन्नानवे दिन मेरे लिये दारुण दुःख के दिन थे। पितृवियोग की चिन्ता के साथ और बातों ने भी मुझे खूब सताया। मुझे नीचा दिखाने की चेष्टायें की गयीं; मुझ पर तरह तरह के लांछन लगाये गये। पर बात बस की न थी, जो प्याला सामने आया उसे पीना ही पड़ा। हाँ, एक बात याद कर कुछ सन्तोष अवश्य होता है। एक दिन मैं अपनी पलटन को अपने नेतृत्व में पिता के सामने से 'मार्च' कराता ले गया। उस दृश्य से उन्हें जो परितोष प्राप्त हुआ वह वर्णनातीत है। उन्होंने काग़ज़ के छोटे से टुकड़े पर मुझे लिख भेजा कि आज जो कुछ देखने में आया उसके लिये मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। वास्तव में यह घटना उस समय के निविड़ अन्धकार में प्रकाश की एक किरण के समान थी।

इस अवस्था में भी मैं अपने कर्तव्य का पूरा पालन करता रहा। कहाँ क्या हो रहा है, लोगों के विचार का स्रोत किस ओर जा रहा है, इन बातों की मैं पूरी खबर रखता था। मेरे देखने में आया और मुझे इससे बड़ा रंज हुआ कि प्रत्येक सरकारी विभाग में ढिलाई बढ़ती जा रही थी। मैंने यह भी देखा कि मेरी माता के प्रति लोगों के हृदय में सद्भाव दिन दिन कम हो रहा था।

पिता की मृत्यु के बाद, मुझे राज्यशासन के जुए में जुतना

पड़ा। पहला काम जो मुझे करना पड़ा वह था सरकारी पदाधिकारियों के सम्बन्ध में हेर-फेर। मैंने कई सुधार किये और बराबर यह सिद्धान्त सामने रक्खा कि किसी को कहीं नियुक्त करते समय केवल उसकी योग्यता का विचार करना चाहिए, और किसी बात का नहीं। मुझे इस बात से कोई मतलब न था कि दरबार में किसके सहायक कौन हैं—मैं केवल यह देखता कि किसने क्या कर दिखाया है। जिन ओहदों की ज़रूरत न थी उन्हें मैंने उठा दिये और अफ़सरों को पेन्शन दे दी, कई नये कर्म्मचारी उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किये गये। इनमें काउण्ट आगस्ट यूलनबर्ग का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह मेरे पिता के कोर्टमार्शल रह चुके थे और मैं इनसे अच्छी तरह परिचित था। इनकी मृत्यु १९२१ में हुई। उस समय इनकी अवस्था ८२ बरस की थी। ऐसे योग्य, कार्य्यकुशल और सच्चे सेवक किसी भी शासक को भाग्य से ही मिलते हैं। इनकी योग्यता ऐसी थी कि ऊँचे से ऊँचे पद को सुशोभित कर सकते थे और वफादारी ऐसी थी कि मरते दम तक मेरे सुख-दुख के साथी बने रहे।

मेरे पितामह ने मरते समय मुझे ख़ास तौर से यह आदेश दिया था कि रूस के साथ अपना सम्बन्ध कभी बिगड़ने न देना। प्रिन्स बिस्मार्क भी उस समय उपस्थित थे। उन्होंने यह निश्चय किया कि मरणासन्न सम्राट् के इच्छानुसार मुझे सब से पहले गर्मी के दिनों में रूस की यात्रा करनी चाहिए। पर इंगलैंड की महारानी विक्टोरिया को यह बात नापसन्द हुई। उन्होंने मुझे लिखा कि 'यह क्या सुनने में आ रहा है!—अभी तो एक बरस तक तुम्हें मातम मनाना चाहिए, फिर उसके बाद सब से पहले

अपनी नानी से आकर मिलना चाहिए। इङ्गलैण्ड तुम्हारी माता की जन्मभूमि है, इसलिये तुम्हें सब से पहले यहाँ आना उचित है। इङ्गलैण्ड आकर मुझसे मिल जाओ, फिर और कहीं जाने की बात करना'। मैंने उनकी चिट्ठी प्रिन्स बिस्मार्क को दे दी। देखते ही वह आग-बबूला हो गये। बोले—'बस, नानी की बहुत चली, अब आगे नहीं चलने की। दामाद के दब्बू-पन ने हौसला बढ़ा दिया है, इसीसे ऐसी चिट्ठी लिखने का साहस हुआ है। इसका जवाब मैं दूँगा।' मैंने अर्ज़ किया कि 'जवाब मैं खुद लिखूँगा। पर भेजने से पहले आपको दिखा लूँगा। हाँ, मज़मून ऐसा होगा जिसे देख कर वह भी कहें कि नाती तो है, पर आख़िर शाहन्शाह हैं'। मैं यह कैसे भूल सकता था कि महारानी विक्टोरिया अपने हाथों मेरा लालन-पालन कर चुकी थीं? रिश्ते की बात छोड़ भी दी जाय तो खाली उम्र के लिहाज़ से भी कम आदर और सम्मान के योग्य न थीं। मैंने उत्तर देते समय इन बातों का पूरा ध्यान रक्खा और मज़मून में कुछ भी कड़ापन या छिछोरापन आने न दिया। मीठे शब्दों में ही मैंने उन्हें परि-स्थिति समझा दी। मैंने बता दिया कि "मैं सम्राट् हूँ और अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये नियमबद्ध हूँ। मेरे पितामह मरने से पहले अपनी एक ऐसी इच्छा प्रकट कर गये जिसका इस देश के जीवन-मरण से ख़ास संबन्ध है। उनके उत्तराधिकारी की हैसियत से आज यह निर्णय मुझे करना है कि उनकी इच्छा पूरी करने का सब से अच्छा मार्ग कौन है। मैं आपके स्नेह और सद्भाव का भूखा हूँ और समय समय पर आपके सदुपदेश की राह देखूँगा। पर जहाँ जर्मनी से सम्बन्ध रखनेवाला कोई प्रश्न हो वहाँ

आप मुझे कभी स्वतंत्र न समझें। मेरे पितामह की आज्ञा थी कि मैं सेंट पीटर्सबर्ग की यात्रा करूँ। राजनैतिक दृष्टि से मुझे भी यह आवश्यक जान पड़ता है। ऐसी अवस्था में मैं अपने विचार का परित्याग करने में असमर्थ हूँ।"

प्रिन्स को मेरे ख़त का मज़मून पसन्द आया। महारानी विक्टोरिया ने उसके उत्तर में जो कुछ लिखा वह आश्चर्यजनक था। उनके पत्र का सारांश था कि तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है; तुम्हें अपने देश के हित को सामने रख कर ही कोई काम करना चाहिए; चाहे कभी आओ मगर आना ज़रूर!' उस दिन से महारानी विक्टोरिया के साथ मेरा संबन्ध जैसा होना चाहिए वैसा ही रहने लगा। उन्होंने भूल कर भी कभी अपने व्यवहार से यह प्रकट होने न दिया कि मैं सिर्फ़ उनका नाती हूँ, उनकी बराबरी का स्वतंत्र सम्राट् नहीं!

शुरू में मैं जहाँ जहाँ जाता काउन्ट हर्बर्ट बराबर मेरे साथ रहते। अपने पिता के आदेशानुसार वह मेरे लिये भाषण लिख देते और लोगों से मिलते-मिलाते। १८८९ में मैं कुस्तुन्तुनिया से लौटा। प्रिन्स बिस्मार्क को टर्की से घृणा सी थी। मैंने उनका विचार बदलने की चेष्टा की, पर सफल न हुआ। पिता और पुत्र दोनों ही टर्की के विरोधी थे, और इस विषय में उनकी नीति मेरी नीति के सर्वथा विपरीत थी।

कहने के लिये तो मैं अपने पिता के बाद गद्दी पर बैठा था, पर वास्तव में अपने पितामह का उत्तराधिकारी था। इसका एक नतीजा यह हुआ कि पुरानी पीढ़ी के राजनीतिज्ञों को मुझ से अर्थात् मेरे भावों से परिचित होने का मौका ही न मिला। इनमें

कई उदार विचार के लोग थे और यह आशा रखते थे कि सम्राट् फ्रेडरिक के राज्य-काल में हमें अपने विचारों को कार्य्यरूप देने का अवसर मिलेगा। स्वभावतः इन्हें मेरे पिता की मृत्यु से घोर निराशा हुई। इन्होंने सोचा कि नये दौर-दौरे में हमें अब कौन पूछता है और कौन वैसा अवसर देता है! मेरे भावों को जानने की चेष्टा किये बिना ही इन्होंने अपना मत क़ायम कर लिया और मेरा अविश्वास करने लगे। इनमें हर फान वेन्डा को मैं ज़रूर अपवाद कहूँगा। वह नेशनल लिबरल पार्टी के थे और बहुत ही सुलझे विचार रखने वाले थे। उनसे मेरा घनिष्ट सम्बन्ध हो चला और मैं उनके घर आने जाने लगा। बेन्डा बड़े दूरदर्शी थे, और एक ख़ास दल के अनुयायी होते हुए भी तास्सुब से दूर रहते थे। उनसे मैंने राजनीति-संबंधी बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त की।

चरमपन्थी साम्यवादियों को छोड़ सभी दलों के प्रति मेरा सद्भाव था। लिबरल पार्टी से मेरा कोई द्वेष न था। मेरे कई प्रसिद्ध मंत्री इसी दल के थे। यह ज़रूर है कि और दलों की अपेक्षा मेरा कन्ज़र्वेटिव पार्टी वालों से मिलना-जुलना ज्यादा होता था। किसानों पर कैसी बीत रही है इसकी ख़बर मुझे इसी दल वालों से मिला करती थी। मैं राजनैतिक नेताओं से बात चीत में अक्सर कहता कि दलबन्दी की बुनियाद पुरानी हो चली—अब नये श्रेणी-विभाग की आवश्यकता है। १८७० के लगभग ज़र्मनी के इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ था, पर इस युगान्तर में भी लिबरल और कन्ज़र्वेटिव १८६१–६ की बात न भूल पाये थे और उसी प्रकार आपस में लड़ते जा रहे थे। कन्ज़र्वेटिव पार्टी में चरित्रबल काफ़ी रहा है और उसकी राजभक्ति

के विषय में कुछ कहना अनावश्यक है। पर दुर्भाग्य की बात है कि उसमें ऐसे नेताओं का अभाव सा रहा है जो उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ होते हुए कार्य्यकुशल हों और दाव-पेंच का असाधारण ज्ञान रखते हों। मैंने कई बार इस दलवालों को सलाह दी कि तुम नेशनल लिबरलों से मिल जाओ, पर किसीने इस पर ध्यान न दिया। सेन्टर पार्टीवाले पोप-पन्थी और साम्राज्यवाद के विरोधी थे। फिर भी इस दल के कई व्यक्तियों से मेरा सम्बन्ध था और सार्वजनिक कार्यों में मुझे उनका सहयोग प्राप्त होता रहता था।

पहले से ही देश की आर्थिक उन्नति की ओर मेरा पूरा ध्यान था। इस विषय में मुझे कुछ शिक्षा भी मिल चुकी थी। तख्तनशीं होते ही मैंने काम में हाथ लगा दिया। नहरों की खुदाई, आने जाने के मार्गों का निर्माण, खेती के लिये मशीनरी का प्रचार जैसे सुधारों की योजना की गयी और देश का स्वरूप कुछ ही समय में कुछ से कुछ हो चला। पर एक बड़ी कठिनाई का अनुभव होने लगा। मैंने प्रत्येक मंत्री को अपने विभाग में पूरी स्वतंत्रता दे दी थी, फिर भी प्रिंस बिस्मार्क की मर्ज़ी के खिलाफ़ कोई कुछ न कर सकता था। प्रत्येक मंत्री को उन्हीं के इशारे पर नाचना पड़ता था, प्रत्येक उन्हींके हाथ की कठपुतली था। उन्होंने अच्छी से अच्छी बात नापसंद कर दी तो फिर किसीका साहस न होता कि उसके सम्बन्ध में कुछ करे। बिस्मार्क ही सर्वेसर्वा थे—उनके आगे 'नये मालिक' की कौन सुनता था। मुझे प्रायः यही उत्तर मिलता कि 'प्रिंस बिस्मार्क आपके प्रस्ताव के विरुद्ध हैं—हम लोगों ने बहुतेरा समझाया पर वह टस से मस

नहीं होते—आप सचमुच प्राचीन पद्धति को छोड़ देना चाहते हैं—आपके पितामह तो ऐसा कभी न करते'—इत्यादि। मुझे यह अनुभव हो चला कि मंत्रिमंडल पर मेरा कुछ भी ज़ोर न था, उसे ऐसी आदत पड़ गई थी कि वह अपना मालिक बिस्मार्क को समझता था, सम्राट् या कैसर को नहीं!

इसके दो-एक उदाहरण लीजिए। प्रिन्स बिस्मार्क ने साम्य-वादियों के दमन के लिये ख़ास क़ानून का मसविदा तैयार किया। कुछ लोगों की, और साथ ही मेरी, राय थी कि उसमें एक 'पैरा' ज़रा और नरम कर देना चाहिए, नहीं तो क़ानून पास न हो सकेगा। पर बिस्मार्क ने इसका घोर विरोध किया। मंत्रियों में मतभेद हो गया। बिस्मार्क ने मुझे कहला भेजा कि 'आप सेना के नायक हैं और कमर में तलवार बाँधते हैं, अगर साम्यवादियों ने बग़ावत की तो आपको अपनी फ़ौज लेकर उनका सामना करना होगा, पर अभी आप मुझे अपने मन की करने दें, मैं सब को शान्त कर दूँगा।' मैंने इस प्रश्न के निर्णय के लिये अपने मंत्रियों की सभा की। उसमें बिस्मार्क ने फिर अपने पक्ष का ज़ोरों से समर्थन किया और दृढ़ बने रहे। नतीजा यह हुआ कि किसी की हिम्मत न हुई कि उनका विरोध करे। जो अपना मत-भेद जाहिर कर चुके थे उनसे बोलने को कहा गया तो दबी ज़बान कुछ बोलकर बैठ गये। वोट लिया गया तो मैंने एक ओर हाथ उठाया और मेरे सारे मंत्रिमंडल ने दूसरी ओर! किसीने मतभेद रखनेवालों से पीछे पूछा तो बोले कि प्रिन्स बिस्मार्क की इच्छा के विरुद्ध हम तो कभी वोट दे ही नहीं सकते।

१८८९ में वेस्ट फेलिया की कोयले की खानों में भयङ्कर

हड़ताल हुई । सरकार भी उस हड़ताल से घबड़ा उठी । जहाँ तहाँ से फ़ौज की माँग आने लगी—प्रत्येक मालिक यही चाहता था कि हो सके तो हमारे घर के सामने सन्तरी का पहरा बैठ जाय ! फ़ौज के अफ़सर अपनी अपनी रिपोर्ट भेजने लगे । इससे बहुत सी बातें मालूम हुईं और मजूरों की स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ा । एक अफ़सर हास्यप्रिय था । उसके शहर से सरकारी अफ़सरों और खान-मालिकों के तार पर तार आने लगे । जान पड़ा कि सब के सब बेहद घबराये हुए हैं । मैंने तार-द्वारा उस अफ़सर से पूछा कि बात क्या है । उसका जवाब आया कि अगर सरकारी अफ़सर शान्त हो जायँ तो सब शान्ति ही शान्ति है !

रिपोर्टों से पता चला कि मजूरों की स्थिति सचमुच शोचनीय थी, उनके अभाव-अभियोगों में बहुत कुछ सत्यता थी । इस विषय की जाँच की मुझे सख़्त ज़रूरत जान पड़ी और मैंने दोनों ओर के प्रतिनिधियों को स्टेट कौंसिल के अधिवेशन में आमंत्रित करना स्थिर किया । मेरा विचार था कि इस प्रकार वस्तुस्थिति का अनुसंधान कर यह निर्णय किया जाय कि रोग क्या है और उसका इलाज क्या होना चाहिए । पर मेरे सलाहकारों ने कहा कि प्रिन्स बिस्मार्क इसका घोर विरोध करेंगे, इस लिये आपको इसका आयोजन न करना चाहिए । मैं अपने विचार पर दृढ़ बना रहा । मेरा कहना था कि जो जर्मन कल-कारखानों या उद्योग-धन्धों की चक्की में पिस रहे हैं उनकी रक्षा करना और उनकी दशा सुधारना मेरा फ़र्ज़ है, इसलिये मैं अपने कर्तव्य-पथ से विचलित न हूँगा ।

हाँ, प्रिन्स बिस्मार्क ने घोर विरोध किया । पूँजीपतियों में

भी कुछ लोग उनके समर्थक थे, इससे मुझे अपने विचार को कार्य्यरूप देने में कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। स्टेट कौंसिल का अधिवेशन मेरे सभापतित्व में हुआ। पहली बैठक के दिन प्रिन्स बिस्मार्क आये और मेरी काररवाई की कड़ी आलोचना की। और यह कहते हुए कि 'मैं इसमें सहयोग प्रदान नहीं कर सकता' उठ कर चल दिये।

इस दृश्य का उपस्थित लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनका भ्रूभंग, उनकी लाल आँखें, उनकी कठोरता—और दृढ़ आत्म-विश्वास—यह सब देख कर हम लोग दंग रह गये। फिर भी मैं उनके आचरण से मर्म्माहत हुआ। सन्तोष की बात इतनी ही हुई कि स्टेट कौंसिल के काम में बाधा न पड़ी। क़ानून द्वारा मजूरों की दशा सुधारने के उद्देश से उसने परिश्रमपूर्व्वक बहुत कुछ मसाला इकट्ठा किया और आगे बढ़ने का रास्ता बताया। मैंने इस सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय महासभा करने का निश्चय किया। प्रिन्स बिस्मार्क इसके भी विरोधी थे। पर महासभा बर्लिन में हुई और इसके फलस्वरूप, मजूरों के हितसाधक कितने ही उपयोगी प्रस्ताव पास हुए। हाँ, उन प्रस्तावों के अनुसार क़ानून केवल जर्मनी में ही पास हो सके।

कुछ दिन बाद मेरी बिस्मार्क से साम्यवादियों के सम्बन्ध में बातें हुईं। मैंने उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहा कि इस आन्दोलन को दबाने के लिये गोलीबारूद को काम में लाना वाञ्छनीय नहीं है। मैंने कहा कि मेरे पितामह जैसे लोकप्रिय सम्राट् के बाद गद्दी पर बैठते ही मैं अपनी प्रजा के खून से हाथ रँगने को तैयार नहीं हूँ। पर बिस्मार्क पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

बोले कि इसका सारा उत्तरदायित्व मुझ पर है, आप यह काम मेरे हाथों में छोड़ दें। मैंने कहा कि 'ऐसा करना मेरी आत्मा के सर्वथा प्रतिकूल होगा, फिर मैं परमात्मा के सामने इसका क्या उत्तर दूँगा! मुझे मालूम है कि मजूरों की अवस्था बहुत ख़राब है और उसको सुधारने की बड़ी ज़रूरत है, फिर मैं जले को और जलाने क्यों जाऊँ'?

बिस्मार्क से मेरे सम्बन्ध-विच्छेद का मुख्य कारण यही मत-भेद था। मैं मजूरों के सम्बन्ध में उनके विचारों का पोषक न था, और इसने उन्हें मेरा शत्रु बना दिया। बरसों तक मुझे उनके तथा उनकी भक्तमण्डली के विरोध का सामना करना पड़ा।

बिस्मार्क का विश्वास था कि यह समस्या सख़्त क़ानूनों से—और आवश्यकता हो तो गोलीबारूद से—हल हो सकती है। मेरा ख़याल और था और मैं कड़ाई से काम लेने के सर्वथा विरुद्ध था। पर मेरे नुसखे को वह बेहद ख़तरनाक, और दण्ड प्रहार करने के वजाय प्रेम का प्याला पिलाना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते थे।

पर ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे कोई यह मत समझे कि बिस्मार्क मजूरों के दुश्मन थे। भला उनके समान दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और देशप्रेमी, मजूरों के प्रश्न को, उस दृष्टि से कब देख सकता था? नहीं, वह मजूरों के शुभचिन्तक थे और सच्चे शुभचिन्तक थे। बात इतनी ही थी कि वह इस प्रश्न को हल करना सरकार का काम समझते थे और इसमें मजूरों की बात सुनने को तैयार न थे। उनका मत यह था कि मजूरों की भलाई सरकार जैसे मुनासिब समझे करे और अगर उसके निर्णय को अस्वी-

कार करते हुए कोई दल आन्दोलन या बग़ावत कर बैठे तो उसे दबा डाले और जरूरी समझे तो कुचल डाले। बिस्मार्क की नीति में दो ही बातें थीं—सरकार द्वारा मजूरों की हित-रक्षा और विरोधियों का सशस्त्र दमन।

मेरा लक्ष्य और था। मैं मजूरों के हृदय पर अधिकार जमाना चाहता था। राजा का काम प्रजारंजन है, और मजूर-वर्ग भी मेरी प्रजा का एक भाग था। मेरा मत था कि जो न्याय कहता हो वह उन्हें अवश्य मिलना चाहिए—और अगर उनके मालिक उन्हें वह देना न चाहें तो राजा का धर्म्म है कि उनसे चाहे जैसे हो दिला दे। जब कभी मुझे जान पड़ता कि मालिक मजूरों के साथ न्याय करना नहीं चाहते, मैं अपने धर्म्म के पालन के लिये कटिबद्ध हो जाता।

इतिहास के अध्ययन से इतना मैं ज़रूर जानता था कि सारी जनता को सुखी या सन्तुष्ट करना असंभव है। मुझे खूब मालूम था कि एक मनुष्य कभी सारे देश को सुखी नहीं बना सकता। सुखी तो वही देश या राष्ट्र होता है जो या तो सन्तुष्ट है या अपनी स्थिति को देखते हुए सन्तोष मान लेता है। साम्य-वादियों की माँग कभी परिमित न हो सकेगी; उनका लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा, इसका मुझे पूरा ज्ञान था। फिर भी मेरा सिद्धान्त यह था कि जो मांग अनुचित है उसका विरोध करो, पर साथ ही जो मांग उचित है या न्यायानुमोदित है उसे निस्संकोच स्वीकार करने-कराने को तैयार रहो।

मैं मानता हूँ कि यह नीति, जर्मनी के उद्योग-धंधों की उन्नति के लिये कुछ अंश में बाधक अवश्य थी। मजूरी बढ़ाने

या मजूरों की दशा सुधारने का अर्थ था उद्योग-धंधों पर ख़र्च का बोझ लादना। पर सब देश मजूरों के साथ न्याय करने को तैयार न थे, इस कारण प्रतियोगिता में ज़र्मन माल की बिक्री की कठिनाई बढ़ जाती। उदाहरण के लिये, बेल्जियम के मजूरों की दशा बड़ी दीन-हीन थी। वहाँ के मालिक बेखटके मजूरों का खून चूस कर मोटे ताजे हो सकते थे। जर्मनी में यह असंभव था—और लड़ाई के दिनों में मैंने कानून द्वारा बेल्जियम में भी यह असंभव कर दिया। पर मेरे अपने देश में ऐसे क़ानूनों का यह नतीजा ज़रूर हुआ कि उद्योग-धंधों का ख़र्च बढ़ गया और कितने ही बड़े व्यवसायी मेरे विरोधी बन गये। उनके लिये यह स्वाभाविक था, पर मुझे तो सारे राष्ट्र के हित को देखना था, इस लिये मैंने अपने धर्म्म के पालन में ऐसी बातों की परवा न की। इतना ज़रूर है कि जो मजूर अपने साम्यवादी नेताओं के अन्धभक्त थे उन्होंने मेरे लिये कभी धन्यवाद का एक शब्द भी ज़बान से न निकाला। परमात्मा जैसे को तैसा दे!

जर्मनी इस विषय में और देशों से कितना आगे था, यह देख कर विदेशी यात्री आश्चर्यचकित हो जाते थे। महासमर से कुछ ही बरस पहले इँगलैंड में, मजूरों के आन्दोलन के कारण, कुछ जागृति सी हुई। इसके फलस्वरूप वहाँ से मजूरों की तथा दूसरे लोगों की कई टोलियाँ जर्मनी पहुँचने लगीं। उन्होंने जगह जगह घूम कर जर्मन-मजूरों की अवस्था अपनी आँखों देखी और देख कर हैरान हो गये। एक अंगरेज़ मजूर नेता ने चलते समय कहा कि जर्मनी में हम लोगों ने जो कुछ देखा उससे तो हमें आश्चर्य होता है कि यहाँ भी साम्यवादी हैं! अंगरेज़ यात्रियों

ने एक बार एक जर्मन से कहा था कि जर्मनी में वरसों पहले मजूरों के लिये जो कुछ किया जा चुका है उसका दसवाँ हिस्सा भी अगर पार्लमेंट में लड़ झगड़ कर हम पा जायँ तो हम इसे बहुत समझेंगे।

जर्मनी में कितनी उन्नति हो चुकी थी इस विषय में इंगलैंड की जनता ही नहीं, वहाँ की सरकार भी अज्ञानान्धकार में थी। बर्लिन में इङ्गलैण्ड का राजदूत अवश्य था और वहाँ से समय समय पर इन बातों की पूरी रिपोर्ट भी जाती रहती थी। पर ब्रिटिश सम्राट् या पार्लमेंट को और कामों से इतनी फुरसत कहाँ कि मजूरों के हित पर विचार करें और ऐसी रिपोर्टों से लाभ उठावें! जर्मनी को—विशेषतः उसके व्यवसाय को—नष्ट करने की उन्हें जितनी चिन्ता थी उसका शतांश भी इस विषय में जर्मन उदाहरण का अनुकरण करने की नहीं। इंगलैंड तो हमारे उद्योग-धंधों के साथ हमारे मजूरों का भी गला घोंटना चाहता था, पर हमारे देश के मजूर उसकी यह चाल न समझ सके और ९ नवंबर १९१८ को अपने साम्यवादी नेताओं की बात मान कर इंगलैंड की कूटनीति के जाल में जा फँसे।

प्रिन्स बिस्मार्क के साथ अपने विरोध के विषय में मैं काफ़ी कह चुका हूँ। अब एक उदाहरण उनकी मजूर-हित-कामना का भी देना चाहता हूँ। इससे मालूम होगा कि वह अपने देश के इन गरीब भाइयों के लिये अवस्थाविशेष में क्या कर सकते थे।

१८८६ के लगभग की बात है। मैं उस समय युवराज था। एक दिन मुझे ख़बर मिली कि स्टेट्टिन का प्रकाण्ड जहाज़ी कार-ख़ाना बिलकुल बन्द होने पर है। इस कारख़ाने को सरकारी

प्रिन्स बिस्मार्क

जलसेना-विभाग से तो आर्डर मिल जाते थे, पर जर्मन कंपनियाँ अपने जहाज़ों के आर्डर इङ्गलैंड को देना ज्यादा पसन्द करती थीं। स्टेट्टिन के कारख़ाने की उत्पत्ति एक जर्मन ऐडमिरल के प्रोत्साहन से हुई थी और यह बराबर सन्तोषजनक काम करता आ रहा था। हज़ारों मजूरों को इस व्यवसाय से रोटी मिलती थी—पर आज इसकी यह हालत थी कि हाथ में काम न होने के कारण इसका दिवाला निकलने पर था और इतने घर बरबाद होने पर थे। परिस्थिति चिन्ताजनक देख कर मैं प्रिन्स बिस्मार्क के पास गया और उन्हें सारा किस्सा कह सुनाया। सुन कर उनके क्रोध का ठिकाना न रहा और मेज पर हाथ पटकते हुए बोले कि—

'क्या ! जर्मन व्यवसायी इतने धृष्ट हो गये कि अपने जहाज़ जर्मनी में न तैयार कराके इङ्गलैंड में तैयार करायँगे ? और इसी कारण एक इतने बड़े जर्मन कारख़ाने को मिट्टी में मिल जाना होगा ? हर्गिज़ नहीं—अगर ये कम्बख़्त राह पर न आये तो पहले इन्हें मिट्टी में मिलना होगा'।

उन्होंने झट घंटी बजायी। एक नौकर कमरे में आ दाख़िल हुआ। प्रिन्स ने कहा:—

'प्रिवी कौंसिलर—को फौरन बुलाओ'।

कुछ ही मिनटों में प्रिवी कौंसिलर आ हाज़िर हुए। बिस्मार्क बोले:—

'हैम्बर्ग के सरकारी अफ़सर को अभी तार दो कि ब्रीमेन की लायड कंपनी को अपना नया जहाज स्टेट्टिन की वल्कन कंपनी से तैयार कराना होगा'।

प्रिवी कौंसिलर बड़ी फुर्ती से ग़ायब हो गया। प्रिन्स ने

मेरी ओर मुड़ कर कहा:—'मैं आपका कृतज्ञ हूँ कि आपने मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और अपने देश की ऐसी सेवा की। अब आगे से सारे जहाज़ अपने ही देश में बनेंगे। आप वल्कन कंपनी को तार द्वारा इसकी सूचना दे सकते हैं। मैं आशा करता हूँ वहाँ के मजूर आपको हार्दिक धन्यवाद देंगे'।

स्टेट्टिन में जब यह समाचार पहुँचा तब लोगों के हर्ष की सीमा न रही। जर्मन जहाज़ों के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण दिन था। प्रिन्स बिस्मार्क ने आज दृढ़ता दिखाकर वह बीज बोया जिसके फल कुछ ही दिनों बाद तेज़ से तेज़ जर्मन जहाज़ों के रूप में नज़र आने लगे।

स्टेट्टिन के मजूरों को मेरी इस सहायता की कभी विस्मृति न हुई। राजगद्दी पर बैठने के बाद मुझे वहाँ १८८८ में जाने का मौका पड़ा। वल्कन कम्पनी के डाइरेक्टरों ने मुझे अपना कारखाना देखने के लिये आमन्त्रित किया। उनकी ओर से जब मेरा स्वागत हो चुका तब मैं कारखाने के भीतर गया। वहाँ देखता हूँ कि कामकाज बन्द है और सारे मजूर अर्द्धचन्द्राकार पंक्ति में नंगे सिर खड़े हैं। बीच में एक वयोवृद्ध मजूर के हाथ में माला है और वह कृतज्ञता का मूर्तिमान उदाहरण हो रहा है। मेरे एक मंत्री ने धीरे से कहा—'श्रीमान् का यह मजूरों की ओर से स्वागत है'। वह मजूर आगे बढ़कर मेरे पास आया और टूटे फूटे शब्दों में अपना भाव प्रकट करते हुए कहा कि 'आपने बिस्मार्क से सिफ़ारिश कर हम लोगों का और हमारे बालबच्चों का जो उपकार किया उसके लिये हम लोग आपको अन्तस्तल से धन्यवाद देते हैं। यह माला हम अपनी कृतज्ञता के चिह्नस्वरूप

आपकी भेंट करना चाहते हैं, दया कर इसे अंगीकार करें' ! मैं गद्गद हो गया और उन्हें धन्यवाद देते हुए इस बात पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की कि मुझे यह पहली विजयमाला बिना तनिक भी रक्तपात के प्राप्त हुई थी, और इसे मेरे गले में डालने वाले सच्चे सरल जर्मन मजूर थे।

यह घटना १८८८ की है। उस समय के मजूरों का हृदय और ही साँचे में ढला हुआ था।

अधिकार था। इंगलैंड उनके बदले हेलीगोलैंड देने को तैयार हो गया और मैंने भी एवमस्तु कह के झट यह सौदा कर लिया। मुझे मालूम था कि जंजीबार का भविष्य समुज्ज्वल नहीं है, उसकी अवनति छोड़ कर उन्नति होने वाली नहीं है। इस लिये वैसी चीज़ देकर हेलीगोलैंड पाना मुझे और भी लाभदायक जँचा। सब कुछ पक्का हो जाने पर मैंने शाम को, खाना खाने से कुछ पहले, सम्राज्ञी को यह शुभ समाचार सुनाया कि हेलीगोलैंड पर अपना अधिकार हो गया। बिना खून-ख़राबी या लड़ाई-झगड़े के ही जर्मन साम्राज्य को ऐसा मर्म्मस्थल—जलसेना का ऐसा आधार—मिल गया, और सारा काम चुप-चाप हो गया, कहीं ज़रा भी हो-हल्ला न हो पाया।

फिर भी हम लोग निन्दा के ही पात्र बताये गये। अगर यही विनिमय बिस्मार्क के समय में हुआ होता तो लोग उनकी प्रशंसा के पुल बाँध देते, पर कैप्रीवी के नसीब में गालियों के सिवा और कुछ न था। टीका-टिप्पणी होने लगी कि इसकी धृष्टता तो देखो, जो चाहा कर डाला, पर मूर्ख ऐसा कि हीरा देकर काँच उठा लाया! समालोचक, मंत्री के साथ राजा को भी भला बुरा कहने लगे। उच्छृंखल, कृतघ्न जैसे विशेषणों का प्रयोग कर कुछ लोग मुझे अपने शुभाशीर्वाद देने लगे। इनका कहना था कि जैसी भयंकर भूल मैंने और मेरे मंत्री ने की वैसी बिस्मार्क बेहोशी में भी न करते! हेलीगोलैंड तो जब चाहते ले लेते, पर अफ्रीका के वैसे अच्छे उपनिवेशों को देकर नहीं। पहले तो यही पत्र कहा करते थे कि प्रिन्स बिस्मार्क की दृष्टि में इन उपनिवेशों का विशेष महत्व न था—वे सिर्फ अदलबदल के काम के लिये थे—पर

जब कैप्रीवी ने इसी सिद्धान्त का पालन या बिस्मार्क का पदानु-सरण किया तब ये उन पर कटूक्तियों और गालियों की वर्षा करने लगे ! समाचारपत्रों में इस कार्य्य की प्रशंसा बरसों बाद, महासमर के समय, देखने में आयी । उस समय सबको स्वीकार करना पड़ा कि हेलीगोलैंड की प्राप्ति बड़ी दूरदर्शितापूर्ण थी । लोग यही कहते कि आज इस पर इङ्गलैंड का कब्जा होता तो जर्मनी की क्या दशा होती ! वास्तव में जर्मन जाति को कैप्रीवी का कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि बिना हेलीगोलैंड के जर्मनी की जलसेना कभी न खड़ी हो पाती ।

कुछ ही समय बाद कैप्रीवी के विरुद्ध एक और आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । 'दलबन्दीपुर के इस दंगल में' उस स्वाभिमानी पुरुष की हार हुई और उसने चुपचाप पद त्याग कर दिया । कैप्रीवी ने शेष जीवन एकान्तवास में बिताया, पर किसी के विरुद्ध एक भी अपशब्द का प्रयोग न किया ।

(२) होहेनलो

फिर यह प्रश्न उठा कि चैन्सलर कौन हो ? लोगों की इच्छा थी कि इस बार इस पद के लिये कोई ऐसा राजनीतिज्ञ चुना जाय जिस पर बिस्मार्क का विश्वास हो सके । बहुत सोच विचार के बाद मैंने प्रिन्स होहेनलो को—जो उस समय एक प्रान्त के गवर्नर थे—चैन्सलर बनाया । प्रिन्स बिस्मार्क की दृष्टि में उनका स्थान ऊँचा था । जर्मन साम्राज्य की वह बहुत बड़ी सेवा कर चुके थे । मैंने सोचा कि होहेनलो की नियुक्ति से सर्व-साधारण के साथ प्रिन्स बिस्मार्क को भी पूर्ण सन्तोष होगा ।

होहेनलो मेरे आत्मीय थे। घर पर हम लोग उन्हें 'काका' कहते थे। वह अनुभवी और नीतिनिपुण तो थे ही, उनका शील स्वभाव भी सर्वथा सज्जनोचित था।

इसी समय एक उल्लेखनीय बात हुई। फ्रान्स और रूस की सन्धि के समाचार के साथ मुझे यह समाचार मिला कि अल्जीरिया से फ्रेंच सेना का बहुत बड़ा भाग दक्षिण फ्रान्स में आने वाला है, जिससे ज़रूरत पड़ने पर उसका उपयोग इटली या जर्मनी के विरुद्ध हो सके। मैंने फौरन ज़ार को लिखा कि आप अपने दोस्त को समझा दें कि अगर ऐसा हुआ तो जर्मनी भी चुपचाप न बैठ सकेगा। रूस के पर-राष्ट्र-सचिव प्रिन्स लोबानफ मुझसे मिलने आये और कहने लगे कि 'आपकी आशंका निर्मूल है। डरने या घबराने की कोई बात नहीं'। मैंने उत्तर दिया कि 'जर्मन अफ़सरों के शब्दकोष में 'डर' या 'घबराहट' ने कहीं स्थान ही नहीं पाया। पर हाँ, अगर रूस और फ्रान्स लड़ाई चाहते हैं तो मैं लाचार हूँ'। इस पर उन्होंने ऊपर की ओर आँखें उठा कर कहा कि 'लड़ाई! इसका विचार ही कौन रखता है—नहीं, यह कभी होने की नहीं'। मैंने कहा कि 'कम से कम मैं तो विचार नहीं रखता। पर आखिर फ्रान्स और रूस के नये सम्बन्ध का अर्थ क्या है? पेरिस और सेंट पीटर्सबर्ग में जो आनन्दोत्सव मनाये जा रहे हैं, पारस्परिक प्रशंसा में इतने भाषण हो रहे हैं, दोनों देशों के प्रभावशाली पुरुष आने-जाने लग गये हैं—इन बातों से क्या सूचित होता है? जर्मनी में इनसे असन्तोष बढ़ने की पूरी संभावना है। यों तो हम सभी शान्ति चाहते हैं और मेरी तनिक भी इच्छा लड़ाई में पड़ने की नहीं है।

पर अगर लड़ाई न रुकी और मुझे इसमें भाग लेना ही पड़ा तो मुझे विश्वास है कि जर्मनी, ईश्वर की दया और अपनी सेना तथा जनता की सहायता से, अपनी कर्तव्य-परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण होगा'।

होहेनलो के समय में ही सिंग-ताव पर जर्मनी का अधिकार हुआ। जर्मन व्यवसायी इस बात पर ज़ोर देते आ रहे थे कि चीन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मौका हाथ से न जाने देना चाहिए। पर इसके लिये आवश्यक था कि चीन में जर्मनी का कोई ऐसा बन्दरगाह हो जहाँ उसके जहाज कोयला ले सकें। यह निश्चित हुआ कि चीन के सहयोग से इस कार्य्य में सफलता प्राप्त की जाय। अर्थात् वह बन्दरगाह चीन साम्राज्य का अंग होता हुआ भी जर्मनी के प्रबन्ध में रहे, और वहाँ जर्मन सेना उतनी ही रहे जितनी अपने व्यापारियों की हित-रक्षा के लिये आवश्यक हो। इस स्थान-प्राप्ति का उद्देश केवल व्यापार-विस्तार था, राज्य-विस्तार नहीं।

कई स्थानों के सम्बन्ध में विचार हुआ, पर कोई उपयुक्त न जँचा। कोई ऐसा निकला जहां से देश के भीतर आने-जाने का कोई मार्ग ही न था। कोई ऐसा था जहां से आने-जाने का मार्ग होते हुए भी ऐसी बुरी दशा में था कि उससे कोई लाभ न था। कई स्थान ऐसे मिले जो या तो आर्थिक—राजनैतिक दृष्टि से अनुपयुक्त थे या जिनमें दूसरे देश पहले से ही विशेष अधिकार प्राप्त किये बैठे थे। अन्त में जल-सेनाध्यक्ष टिरपिज और एक भूगोल-विशेषज्ञ की रिपोर्ट पर यह निश्चित हुआ कि किया—चाऊ की खाड़ी के किनारे शान्तुङ्ग में जर्मन उपनिवेश का आयोजन किया जाय।

चैन्सलर ने राजनैतिक दृष्टि से इस विषय का अनुसन्धा
आरंभ कर दिया। उससे मालूम हुआ कि रूस की जलसेना
अध्यक्ष ने, अपनी सरकार की आज्ञा से, एक बार जाड़े के दि
में, उस बन्दरगाह के पास लंगर डाला था। पर उसे वह स्था
ऐसा निर्जन और नीरस जँचा कि रूस की जलसेना ने फिर उध
जाने का नाम न लिया। शीतकाल में रूस-निवासियों के लि
जापानी वाराङ्गनाओं के साथ चाय पीने के स्थान परमावश्य
थे, पर यहाँ यह बात न थी। उस सेनाध्यक्ष ने अपनी सरक
को लिख दिया कि यहाँ बसने से कोई लाभ नहीं है, औ
इस कारण रूस ने भी वैसा ही निश्चय कर लिया।

पर रूस का इस विषय में जो उत्तर मिला वह मार्ग में रो
अटकाने वाला था। वहाँ के पर-राष्ट्र-सचिव काउन्ट मुराविय
लिखा कि यों तो चीन के साथ हमारी कोई सन्धि ऐसी नहीं
जिसके जरिये हम इस स्थान के स्वत्वाधिकारी कहे जा सकें, प
हाँ, उस बन्दरगाह में सबसे पहले रूस के जहाज़ ने लंगर डा
था, इस कारण हमारा उस पर विशेष अधिकार है।

यह उत्तर पाकर हम लोग आश्चर्य्य में पड़ गये। चैन्सल
ने व्यंग्यपूर्वक कहा कि 'हमने तो आज तक ऐसा दावा ही
सुना। पर-राष्ट्र-विभाग में भी पूछताछ की गयी, पर एक
विशेषज्ञ ऐसा न मिला जो इसकी जानकारी रखता हो। शाय
हमारी जलसेना के अध्यक्ष इस पर कुछ प्रकाश डाल सकें।' ज
सेनाध्यक्ष हालमैन ने कहा कि 'मैंने भी अपनी सारी ज़िन्दगी
ऐसी बात न सुनी, पर मुझे विश्वास है कि इसमें कुछ भी स
नहीं है। वास्तव में जर्मनी का प्रयत्न विफल करने के लिये, य

मुराविियफ की एक चाल है'। मैंने कहा कि इस विषय में प्रिवी कौंसिलर पेरेल्स की राय ली जाय, क्योंकि इस विषय के वह अनन्य ज्ञाता हैं और उनका मत प्रामाणिक होगा। पेरेल्स ने हालमैन के मत का समर्थन करते हुए मुरावियफ के दावे की धज्जियाँ उड़ा दीं और साबित कर दिया कि पहले पहल लंगर डालने से ही कोई ऐसा हक़दार नहीं बन सकता।

महीनों बाद, मेरी इस विषय में ज़ार से बातें हुईं। उन्होंने कहा कि मुझे शान्तुङ्ग से कोई मतलब नहीं है, आप वहाँ खुशी से उपनिवेश कर सकते हैं। मुरावियफ से भी मेरी बातें हुईं। उसने तरह तरह की आपत्तियाँ पेश कीं और अन्त में लंगर वाली दलील का सहारा लिया। मैं इसके लिये अच्छी तरह तैयार था; और पेरेल्स ने इस सम्बन्ध में जो कुछ बताया था उसकी सहायता से उसे निरुत्तर कर दिया। अन्त में, जब मैंने उसे बताया कि ज़ार से मेरी क्या बातें हो चुकी थीं तब तो वह सिट-पिटाया और एक तरह से अपनी हार मान ली।

बीज बोने के लिये, राजनैतिक दृष्टि से, इस प्रकार खेत तैयार कर लिया गया। इसी समय समाचार मिला कि शान्तुङ्ग में दो जर्मन पादरी मार डाले गये। देश भर में आन्दोलन मच गया कि इसका प्रतीकार होना चाहिए। चैन्सलर ने सलाह दी कि जर्मनी को इसका जवाब झटपट देना चाहिए। नवंबर १८९७ में किया-चाऊ पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया। मार्च १८९८ में चीन से इस विषय की सन्धि हुई। इसी समय इँगलैंड ने, पूरब में रूस की गति रोकने के उद्देश से, जापान के साथ सन्धि करने का प्रस्ताव उपस्थित किया।

जब इँगलैंड को मालूम हुआ कि जर्मनी चीन में पैर जमाने जा रहा है तब उसे यह बहुत बुरा लगा। मुझे आशा थी कि वह इसका विरोध न करेगा, पर मुझे निराश होना पड़ा। उसका रंग-ढंग देख कर मुझे विश्वास हो गया कि उसका दिल साफ़ नहीं है। बर्लिन के ब्रिटिश राजदूत से जब मैंने इसकी शिकायत की तब उसे भी आश्चर्य्य सा हुआ और उसने कहा कि 'करीब आधी दुनिया इँगलैंड के हाथ में हो रही है, ऐसी हालत में मेरी समझ में नहीं आता कि वह ऐसी संकोर्णता क्यों दिखा रहा है। आखिर जर्मनी-को पैर पसारने के लिये जिन स्थानों की आवश्यकता होगी उन्हें तो वह लेके ही रहेगा—इँगलैंड की अनिच्छा या अस्वीकृति उसके लिये कब बाधक हो सकती है!'

मैंने कहा कि 'संसार में जर्मनी ही एक ऐसा देश है जिसके पास उपनिवेश होते हुए भी, कोयला आदि लेने की दृष्टि से, कोई अच्छा बन्दरगाह नहीं है। इससे उसके व्यापार के मार्ग में बड़ी रुकावट हो रही है। हम लोग इस विषय में इँगलैंड की सहायता और सहयोग के प्रार्थी हैं। पर अगर उसने हमारी प्रार्थना पर ध्यान न दिया तो हमें किसी दूसरे बड़े राष्ट्र का दरवाज़ा खटखटाना होगा।' पर इस बातचीत का कुछ नतीजा न निकला। अन्त में हमें विवश होकर रूस की ओर मुड़ना पड़ा।

ब्रिटिश सरकार को हमारी सफलता पर आश्चर्य और क्रोध दोनों ही हुए। उसका विश्वास था कि इस विषय में जर्मनी की सहायता करनेवाला कोई न होगा, पर उसे बड़े ज़ोरका धक्का लगा। इँगलैंड की इस मनोवृत्ति पर नीचे की पंक्तियों से बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

१९१८ में 'जापान की समस्या' नामक एक पुस्तक हेग में प्रकाशित हुई थी। इसके लेखक कोई अवसरप्राप्त राजदूत थे, जो पहले सुदूर पूर्व (Far East) में काम कर चुके थे। इस ग्रंथ में वाशिङ्गटन विश्वविद्यालय के अमेरिकन अध्यापक उशर की १९१३ में प्रकाशित एक पुस्तक से कुछ अंश उद्धृत किया गया था। अध्यापक उशर अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के अनन्य ज्ञाता समझे जाते हैं और अमेरिकन सरकार कई बार उनसे सहायता ले चुकी है। इन्होंने अपनी पुस्तक में, इँगलैंड, अमेरिका और फ्रांस के बीच की एक ऐसी सन्धि या समझौते का उल्लेख किया था जो १८९७ से चला आता था पर जिसके विषय में १९१३ से पहले कहीं भी कुछ प्रकाशित न हुआ था। इस समझौते का आशय यह था कि अगर जर्मनी या आस्ट्रिया या दोनों ने, जर्मन साम्राज्य के विस्तार के लिये, युद्ध छेड़ दिया तो अमेरिका धन-जन से फ्रान्स और इँगलैंड का पूरा साथ देगा। देखिए, ये तीनों महाशक्तियाँ महासमर से १७ बरस पहले उसके विरुद्ध कैसी चालें चल रही थीं! 'जापान की समस्या' के लेखक ने इस प्रसंग में जो कुछ लिखा है वह पढ़ने लायक है। उसने स्वीकार किया है कि १८९७ में तो जर्मनी ने अपनी जलसेना बढ़ाने के काम में हाथ भी न लगाया था, फिर जर्मन-साम्राज्य-विस्तार की आशंका कैसी! असलियत यह है कि जर्मनी के विरुद्ध इन महाशक्तियों का षड्यंत्र बहुत पहले रचा गया था। १८९७ में इँगलैंड, फ्रांस और अमेरिका के बीच जो गुप्त सन्धि हुई उसका उद्देश जर्मनी का अस्तित्व मिटा देना था। ज्योंही रूस और जापान आ मिले, फ़ैर कर दिया गया। सर्विया ने इस सम्बन्ध

में उनके हाथों की कठपुतली का काम किया। पलीता बहुत पहले से तैयार था, सिर्फ आग लगाने की देर थी।

अमेरिका महासमर में क्यों कूद पड़ा, इस प्रश्न के उत्तर में तरह तरह की बातें की जाती हैं। कोई कहता है कि जर्मन सबमेरीनों या पनडुब्बियों के उपद्रव के कारण, कोई कहता है कि लुसीटैनिया जहाज़ डूबने के कारण। पर वास्तव में बात कुछ और ही थी। अमेरिका, या कहना चाहिए कि प्रेसिडेंट विल्सनने आरंभ से ही (१९१५ से तो अवश्य ही) निश्चय कर रक्खा था कि जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई में भाग लेंगे। इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो बड़े बड़े पूँजीपतियों का दबाव था, दूसरा फ्रांस का घोर संकट था। अमेरिका को मालूम था कि इँगलैण्ड, फ्रान्स के कई बन्दरगाहों को हड़प लेना चाहता है और उसने सोचा कि अगर फ्रान्स की शक्ति जाती रही तो वह योंही इँगलैंड का मुखग्रास बन जायगा। बस, एक बहाना ढूँढ़ कर वह भी जर्मनी पर टूट पड़ा।

जर्मनी का पर-राष्ट्र-विभाग कूटनीति में अपने शत्रुओं की तनिक भी बराबरी करने वाला न था। जर्मनी में कूटनीतिज्ञ होते ही नहीं! फ्रेडरिक और बिस्मार्क इस नियम के अपवाद से हुए हैं। हमारे पर-राष्ट्र-विभाग की यह नीति थी कि किसी से झगड़ा मोल न लेना और जहाँ तक हो सके सब से मिलजुल कर रहना। दक्षिण अमेरिका के एक राज्य में एक बार किसी जर्मन व्यापारी की सारी सम्पदा लुट गयी। उसने दरख्वास्त की कि हमारी क्षति-पूर्ति करा दी जाय। हमारे पर-राष्ट्र-विभाग ने जवाब दिया कि 'हम कुछ नहीं कर सकते। उस राज्य के साथ हम ऐसे स्नेह-सूत्र से बँधे हुए हैं कि ऐसे मामले में पड़ना ही नहीं चाहते'।

जब कभी मुझे किसी सरकारी कर्मचारी की ऐसी मनोवृत्ति का पता चलता तो मैं फौरन उसे निकाल बाहर कर देता, पर इस उदाहरण से लोग समझ सकते हैं कि जर्मनी के पर-राष्ट्र-विभाग की नीति क्या रही होगी।

सिङ्ग-ताव में जर्मन लोगों ने थोड़े ही समय में कायापलट कर दिया। व्यापार और उद्योग-धंधों की आश्चर्यजनक उन्नति हो चली। पर सारा काम चीन के सहयोग से किया गया। यह वन्दरगाह जर्मनी के कला-कौशल का जीताजागता नमूना था। यह स्थान चीन के निवासियों को बताता था कि हुनर और तिजारत में जर्मनी की योग्यता कितनी बढ़ी चढ़ी है और आप उससे क्या क्या सीख सकते हैं। इँगलैंड और रूस के वन्दरगाहों की तरह, हमारा उपनिवेश कोई फौजी अड्डा न था। हम चीन में व्यापार करने गये थे, उन देशों की तरह अपने साम्राज्य का विस्तार करने नहीं।

सिङ्ग-ताव की उन्नति देख कर अँगरेज और जापानी जलने लगे। ईर्ष्या के कारण ही १९१४ में इँगलैंड ने ज़ोर लगाया कि सिङ्ग-ताव जापान को मिल जाय, हालां कि वह सम्पत्ति चीन की थी। जापान ने खुशी खुशी उस पर अधिकार जमा लिया। कहने को तो कह दिया कि इसे चीन को लौटा देंगे, पर नीयत और ही थी। वहुत दवाव पड़ने पर १९२२ में उसने यह प्रदेश चीन को लौटाया। अँगरेज़ों को इतना संतोष ज़रूर हुआ कि चीन में जर्मन उपनिवेश न रह सका। जर्मनी ने वहाँ जो कुछ किया था सब मिट्टी में मिल गया, पर इँगलैंड के मन की पूरी हो गयी। पहले उसकी नीति थी कि गोरी जातियों को एक होकर काली

या पीली जातियों का मुकाबला करना चाहिए, पर ईर्ष्या के वशीभूत होकर उसने अपनी वह नीति त्याग दी। समय आनेवाला है जब जापान अपने इस संकल्प को पूरा कर दिखायेगा कि एशिया केवल एशियानिवासियों के लिये रहे। उस दिन हाँग-काँग बंदरगाह अँगरेजों के हाथ से निकल जायगा और चीन से भारतवर्ष तक जापान की ध्वजा फहराने लगेगी। फिर इँगलैंड को सहायता की आवश्यकता होगी और वह जर्मनी तथा जर्मन बेड़े को याद कर मन ही मन पछतायेगा।

रूस-जापान-युद्ध के बाद, मेरी ज़ार से 'पीत आतङ्क' (Yellow Peril) के संबन्ध में एक बार बातें हुईं।

ज़ार को उस समय जापान की उन्नति के कारण विशेष चिन्ता हो रही थी। उन्होंने इस संबन्ध में मेरा मत जानना चाहा। मैंने कहा कि 'रूस को पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह यूरोप के साथ रहेगा या एशिया के। अगर वह अपने को यूरोपियन समझता है तो उसे यूरोप की रक्षा के लिये लड़ने-मरने को तैयार रहना चाहिए। 'पीत आतङ्क' यूरोप के जीवन-मरण का प्रश्न है। अगर रूस यूरोपियन होगा तो वह यूरोप का साथ देगा। पर अगर वह अपने को एशियाई समझता होगा तो वह 'पीत आतंक' का मददगार होकर यूरोप पर आक्रमण करेगा।' ज़ार ने पूछा कि आप रूस को क्या समझते हैं? मैंने उत्तर दिया कि मैं उसे एशियाई समझता हूँ और मेरा विश्वास है कि वह यूरोप का साथ हर्गिज़ न देगा। ज़ार को यह बात बुरी सी लगी और उन्होंने पूछा कि आप किस आधार पर ऐसा कहते हैं? मैंने कहा कि रूस यूरोप का साथी होता तो वह जर्मनी या

आस्ट्रिया की ओर की सरहद पर, रेलवे लाइन बनाने या किला-बन्दी करने की ऐसी व्यग्रता न दिखाता। ज़ार अपनी सफाई देने लगे। मैंने कहा कि अगर बात ऐसी ही है और आप सचमुच यूरोप के साथ हैं तो आपको फौरन अपनी नीति बदल देनी चाहिए, और युद्ध की तैयारियाँ इस ओर न करके और जगह करनी चाहिए। ज़ार चुप रहे।

रूस अन्त में उसी ओर गया जिस ओर जापान था। यह दूसरी बात है कि महासमर में सबसे पहले वही मुँह के बल गिरा।

जापान में धुरन्धर राजनीतिज्ञों की कमी नहीं। उनमें कितने ही यह सोचते होंगे कि जापान ने जर्मनी के विरुद्ध होकर अच्छा काम किया या नहीं। जापान के लिये उस महासमर को रोकने में सफलता प्राप्त करना कहीं अधिक लाभदायक होता। जापान ने जर्मनी और आस्ट्रिया से बहुत कुछ सीखा था। इस लिये उसे उनका कृतज्ञ होना चाहिए था। अगर वह दृढ़तापूर्वक इन देशों का पक्ष ले लेता तो बहुत संभव है कि महासमर रुक जाता।

१९०० में प्रिन्स होहेनलो ने चैन्सलर का पद त्याग दिया। वृद्धावस्था के कारण वह अधिक काल तक भार-वहन करने में असमर्थ थे। दलबन्दी के लड़ाई-झगड़ों से भी तंग आ गये थे। खण्डन-मण्डन के लिये व्यवस्थापिका सभा में घण्टों स्पीचें देना या बकझक करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। प्रिन्स बिस्मार्क से जितनी आशा की गयी थी उतनी सहायता तो न मिली पर इसमें सन्देह नहीं कि उनका भाव पहले की अपेक्षा कहीं अधिक

सन्तोषजनक रहा। पर बिस्मार्क के अनुयायियों ने इस विषय में उनका अनुकरण न किया। कुछ लोग ऐसे भी थे जो सिर्फ होहेनलो का विरोध करने के लिये बिस्मार्क के दल में शामिल हो गये थे। इनकी हरकतें ज्यों की त्यों बनी रहीं, उन पर बिस्मार्क का कोई असर न पड़ा। प्रिन्स होहेनलो को एक वार अपमानित करने से भी उनके ये विरोधी बाज़ न आये।

बिस्मार्क की मृत्यु ने हम दोनों को शोक-विह्वल कर दिया। उनसे हमारा मतभेद था, हमारे मार्ग में उन्होंने रोड़े भी अटकाये थे, पर उनकी देश-सेवाओं को हम कब भूल सकते थे? जर्मनी ने ऐसे पुत्र-रत्न बहुत कम पाये हैं। मैंने स्वयं उनसे बहुत कुछ सीखा था। जर्मन राष्ट्र की एकता को प्रिन्स बिस्मार्क का स्मारक समझना चाहिए।

१५ अक्तूबर को प्रिन्स होहेनलो ने मुझसे बिदा ग्रहण की। हम दोनों की आँखें डबडबा आयीं। मंत्री ने अपने राजा को और भतीजा ने अपने चचा को सलाम किया। जिस समय उन्होंने चैन्सलर का पद स्वीकार किया था उस समय उनकी अवस्था ७५ बरस की थी। फिर भी अपने सम्राट् के आदेश का पालन करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा और देशसेवा की बेदी पर अपनी सुख-शान्ति का बलिदान कर यह भारी बोझ अपने कन्धों पर उठा लिया। कमरे से बाहर जाते समय उन्होंने मेरा हाथ थाम कर कहा कि 'एक अन्तिम प्रार्थना है, वह स्वीकार हो। मेरी सेवाओं का मुझे यह पुरस्कार मिलना चाहिए कि मरते दम तक मैं आपकी मित्रता से वञ्चित न होऊँ।' मेरे स्मृति-पटल पर प्रिन्स होहेनलो की मूर्ति सदा अंकित रहेगी।

(३) ब्यूलो

होहेनलो के बाद मैंने ब्यूलो को चैन्सलर बनाया। यह पहले पर-राष्ट्र-सचिव रह चुके थे। इँगलैंड की नीति दिन-दिन गूढ़ होती जा रही थी, इस लिये उसकी चालों का जवाब देने के लिये इसी कोटि के राजनीतिज्ञ की जरूरत थी। ब्यूलो की दूसरी विशेषता यह थी कि वह अच्छे वक्ता थे और व्यवस्थापिका सभा में किसीसे दबने वाले न थे।

मेरी उनसे पुरानी जान-पहचान थी। कई बार मैं उनके घर पर उनसे मिल चुका था। कुस्तुन्तुनिया की यात्रा में वह मेरे साथ थे और उनसे विभिन्न अवसरों पर राजनैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में मेरी बातचीत हो चुकी थी। गरज़ यह कि हम दोनों एक दूसरे के लिये अपरिचित न थे। बर्लिन में मैं प्रायः रोज़ सुबह उनके अहाते में उनके साथ घूमता और सामयिक प्रश्नों पर विचार-विनिमय करता। कभी २ उनका आतिथ्य भी स्वीकार करना पड़ता और भोजन के समय उनके घर पर ऐसे लोगों से मुलाकात होती जिन्होंने काबिलीयत के साथ तबीअत भी पायी थी। ब्यूलो से बातचीत करने में बड़ा मज़ा आता था। हँसने हँसाने का उनका ढंग ही निराला था।

ब्यूलो के पिता, बिस्मार्क के अन्तरंग मित्रों में थे। स्वयं ब्यूलो ने बिस्मार्क के समय में सरकारी नौकरी शुरू की थी। उन पर बिस्मार्क के विचारों का काफी असर पड़ा था, फिर भी वह अपने पैरों खड़े होना, अपनी राह चलना जानते थे। एक दिन मेरी ब्यूलो से इस विषय पर बातचीत हुई कि अँगरेजों से काम पड़ने पर अपनी रीति-नीति क्या होनी चाहिए। मैंने स्पष्टवादिता

पर जोर दिया, और कहा कि अँगरेज उसी की क़द्र करते हैं जो अपना मतलब साफ़ साफ़ जाहिर कर देता है। दाव पेंच या कूट-नीति और देशों के लिये है, इँगलैंड के लिये नहीं। उस पर तो हम सीधी चाल चलके, अपने भावों को स्पष्टरूप से प्रकट करके ही असर डाल सकते हैं। यह कहने की जरूरत इस लिये पड़ी कि मैं व्यूलो की प्रकृति से पूरी तरह परिचित था। वह ऐसे मामलों में कूटनीति के बड़े क़ायल थे।

१९०१ में महारानी विक्टोरिया की बीमारी की ख़बर पाकर मैं लंदन पहुँचा। उस समय उनका अब तब हो रहा था। तत्का-लीन प्रिन्स आफ् वेल्स ने स्टेशन पर मेरा स्वागत किया और ज्योंही मेरी सवारी शाही महल की ओर चली, भीड़ में से एक सीधे सादे आदमी ने मेरे पास आकर अपनी टोपी उतार ली और कहा—'कैसर ! आपको धन्यवाद है'। प्रिन्स आफ् वेल्स–भावी सप्तम एडवर्ड—ने धीरे से कहा कि 'आपके प्रति सबका ऐसा ही भाव है और आपकी इस यात्रा को ये कभी भूल नहीं सकते'। पर सच्ची बात यह है कि उन्हें भूलते देर भी न लगी।

जिस समय महारानी विक्टोरिया का प्राणान्त हुआ उस समय उन्हें मेरे हाथों की टेक लग रही थी। मेरे लिये तो उस समय शोक का सागर उमड़ पड़ा। शैशव-काल की कितनी ही सुखद स्मृतियों पर परदा गिर गया, इँगलैंड और जर्मनी के सम्बन्ध के इतिहास में एक अध्याय की समाप्ति हो गयी।

विदा-ग्रहण के अवसर पर सप्तम एडवर्ड और मेरी स्पीचें हुईं। इनका उपस्थित लोगों पर अच्छा असर पड़ा। कई अंग-रेजों ने मेरे भाषण की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि यह तो

ज़रूर प्रकाशित होना चाहिए। मैंने कहा कि यह काम ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश सम्राट् का है, मुझे तो कोई आपत्ति नहीं। पर न मालूम क्यों मेरा वह भाषण कहीं प्रकाशित न हुआ। ब्रिटिश जनता को उससे मेरे विचारों का पता चल जाता, पर यारों ने वह चीज़ कभी उसके सामने आने ही न दी।

जर्मनी लौट कर मैंने चैन्सलर को इन बातों की पूरी रिपोर्ट दी। ब्यूलो ने अपना सन्तोष प्रकट करते हुए पूछा कि इँगलैण्ड में जर्मनी के प्रति जो सद्भाव नज़र आ रहा है उसका हम किस प्रकार सदुपयोग कर सकते हैं? मैंने कहा कि 'मेरी राय तो यह है कि दोनों देशों के बीच एक सन्धि हो जाय, पर यदि यह संभव न हो तो इस समय समझौता ही सही। पर कुछ हो ज़रूर जाना चाहिए'।

इसके कुछ ही दिन बाद, पर-राष्ट्र-विभाग के एक प्रतिनिधि ने एक दिन आकर मुझ से कहा कि मि० चेम्बरलेन ने पूछा है कि जर्मनी, इँगलैण्ड के साथ सन्धि करने को तैयार है या नहीं। मैंने फौरन पूछा कि किसके विरुद्ध? इँगलैंड अगर जर्मनी के साथ सन्धि करना चाहता था यो सिर्फ इस लिये कि उसे जर्मन सेना की सहायता दरकार थी। ऐसी अवस्था में यह जानना ज़रूरी था कि इँगलैण्ड हमारे हाथों किसकी हत्या कराना चाहता है? लंदन से जवाब आया कि रूस, हिन्दुस्तान और टरकी दोनों के लिये, खतरनाक हो रहा है, इसलिये यह सन्धि उसी को ज़ेच करने के लिये की जायगी।

मैंने कहा कि 'यह कैसे हो सकता है? जर्मनी और रूस की सेनाओं में पुराना भाईचारा है। दोनों देशों के शाही घराने भी

एक दूसरे के नज़दीकी है। फिर सोचने की बात है कि अगर फ्रान्स, रूस की ओर जा मिला तो जर्मनी को दो दिशाओं में युद्ध करना पड़ेगा। इस समय बिना वजह रूस से लड़ पड़ना मुझे ठीक नहीं जँचता। रूस की सेना बहुत बड़ी है, एशिया की पूरवी सरहद पर उसका मुकाबला करने के लिये हमें बड़ी तैयारी करनी पड़ेगी। रूस के आक्रमण से इँगलैंड हमारी रक्षा न कर सकेगा, क्योंकि ब्लैक सी में उसकी जलसेना पहुँच नहीं सकती और बाल्टिक सी में पहुँच कर भी हमारी विशेष सहायता नहीं कर सकती'। चेम्बरलेन ने जवाब दिया कि इँगलैंड पक्की सन्धि करना चाहता है और आवश्यकता पड़ने पर हर तरह से जर्मनी की मदद करने को तैयार रहेगा!

मैं यह भी कह चुका था कि जब तक ब्रिटिश पार्लमेंट मंजूर न करे तब तक ऐसी सन्धि का मूल्य ही क्या? अगर यह मंत्रि-मंडल जाता रहा और दूसरे ने सन्धि स्वीकार न की तो फिर क्या होगा? चेम्बरलेन ने जवाब दिया कि 'मैं यथासमय पार्लमेंट की स्वीकृति दिला दूँगा, इस समय तो इसी की ज़रूरत है कि सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हो जायँ'। पर इस लिखा-पढ़ी का कुछ भी नतीजा न निकला। पार्लमेंट का रुख दूसरी ओर था और चेम्बरलेन का प्रस्ताव प्रस्ताव ही रह गया। इसके कुछ ही काल बाद इँगलैंड ने जापान से सन्धि कर ली। रूस और जापान के बीच युद्ध छिड़ गया और इस शतरंज के खेल में जापान अपने मतलब से इँगलैंड का मोहरा बन गया। जो काम इँगलैंड जर्मनी से निकालना चाहता था वह काम उसने जापान से निकाला।

व्यवस्थापिका सभा में दलबन्दी ने बहुत बुरा रूप धारण

कर लिया था। बहुत से कन्ज़रवेटिव (प्राचीन पन्थी) भी सरकार के विरुद्ध हो रहे थे। इन सारी उलझनों को व्यूलो ने बड़े परिश्रम और धीरज से सुलझाया।

कन्ज़रवेटिव पार्टी में योग्यता की कमी न थी। बड़े बड़े राजनीतिज्ञ, मंत्री, सेनापति और कर्म्मचारी इसी पार्टी द्वारा देश को मिल चुके थे। राजभक्ति में भी यह पार्टी औरों से बढ़ चढ़ कर थी। इसकी सेवाओं के लिये सम्राट् तो क्या सारा देश इसका कृतज्ञ था। पर इसकी कमज़ोरी यह थी कि इसमें लकीर की फकीरी ज़रूरत से कहीं ज्यादा थी। समय क्या चाहता है—यह इसकी समझ में आता भी था तो बहुत देर से। हर तरह की उन्नति का यह, बिना समझे बूझे, विरोध कर बैठती थी। इससे मेरी कठिनाई बढ़ जाती थी। उस समय जर्मन साम्राज्य की शक्ति बढ़ रही थी, उसके वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग-धंधों का विस्तार हो रहा था। ज़रूरत आगे बढ़ने की थी, खड़े रहने की नहीं। पर कन्जरवेटिव यह समझ नहीं सकते थे और काम में अड़चन डाल देते थे। मेरा उनसे घनिष्ट संबन्ध था, फिर भी मैं उनकी मनोवृत्ति का समर्थक न था। मैं रूढ़ियों का भक्त हूँ, पर अन्धभक्त नहीं। पुरानी बातों का हमें आदर जरूर करना चाहिए, पर उस आदर के साथ विवेक भी होना चाहिए, नहीं तो हम आँख मूँद कर नयी बातों के विरोधी बन जायँगे और कभी न कभी किसी खंदक या खाई में जा गिरेंगे। जड़ को जरूर पकड़ना चाहिए, पर उसका जो हिस्सा जराजीर्ण हो जाय या सड़ गल जाय उसे छोड़ देना चाहिए, और जो नयी चीज़ उपयोगी जँचे उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।

ब्यूलोने कन्ज़रवेटिव और लिबरल को मिलाकर सरकार के पक्ष में ला दिया। इससे सरकार के पक्षपातियों का व्यवस्थापिका सभा में प्रचण्ड बहुमत हो गया। वास्तव में यह काम ब्यूलो जैसे नीतिनिपुण, अनुभवी और कार्य्यकुशल व्यक्ति से ही हो सकता था। इसके लिये, मैं ही नहीं, सारा देश उनकी प्रशंसा करने लगा और उनका कृतज्ञ हो गया।

कील की नहर खुलने का जो महोत्सव मनाया गया था उसमें सप्तम एडवर्ड भी सम्मिलित हुए थे। एक दिन जहाज़ पर उनकी और ब्यूलो की बात चीत हुई। जर्मनी और इँगलैंड के बीच सन्धि की चर्चा छिड़ने पर, सप्तम एडवर्ड ने कहा कि हम लोगों के बीच तो लड़ाई-झगड़े का कोई कारण ही नहीं है, फिर इस सन्धि की क्या ज़रूरत? बात दर अस्ल यह थी कि इँगलैंड जर्मनी को चारों ओर से घेर कर चित करने की फ़िक्र में था, और इसका ख़ास कारण सप्तम एडवर्ड का द्वेष था। उनकी नीति थी फ्रान्स का हर मौके पर साथ देना और जर्मनी का विरोध करना।

१९०७ में मैं, उनका निमन्त्रण पाकर सपत्नीक इँगलैंड गया। वहाँ कुछ समय बड़े आनन्द से कटा। यात्रा से पूर्व चैन्सलर से मेरी इस संबन्ध में बातें हो चुकी थीं कि इँगलैंड में किन विषयों की चर्चा करनी होगी और क्या कहना होगा। उनके अनुसार मैं अपना काम करता रहा और ब्यूलो को इसकी सूचना देता रहा। इँगलैंड से लौटने पर मैंने इस यात्रा की पूरी रिपोर्ट उनके पास भेजी। उत्तर में उन्होंने, मुझे यह सारा कष्ट उठाने के लिये और इँगलैण्ड तथा जर्मनी के बीच सौहार्द बढ़ाने की चेष्टा करने के लिये, हार्दिक धन्यवाद दिया।

एक बरस बाद हम दोनों के बीच मनोमालिन्य का विशेष कारण हो गया। "डेली टेलीग्रैफ" में मेरा एक वक्तव्य (interview) प्रकाशित हुआ, जिसका उद्देश इँगलैंड और जर्मनी के सम्बन्ध को सुधारना था। मेरे पास जो ड्राफ्ट आया था, उसका कुछ अंश मुझे आपत्तिजनक जँचा और मैंने पर-राष्ट्र-विभाग के प्रतिनिधि की मार्फत उसे चैन्सलर के पास, संशोधन के लिये भेज दिया। पीछे मालूम हुआ कि उस विभाग की भूलों के कारण संशोधन हुआ ही नहीं और वक्तव्य ज्यों का त्यों निकल गया। चारों ओर खलबली मच गयी। व्यवस्थापिका सभा में व्यूलो ने एक स्पीच दी, पर मेरे संबन्ध में जो कुछ कहा उससे मुझे सन्तोष न हुआ। मुझ पर जो आक्षेप हो रहे थे उनसे मुझे पूरी तरह बचाने की चेष्टा न करके उन्होंने यह कह डाला कि इधर कुछ बरसों से ऐसे विषयों में सम्राट् की स्वतंत्रता बढ़ती जा रही है, इसे मैं रोकना चाहता हूँ। कन्ज़रवेटिव पार्टी से भी चुप न बैठा गया। उसने भी सुर में सुर मिला कर मेरे नाम एक खुली चिट्ठी छपा डाली। मुझे इन बातों से बड़ा कष्ट हुआ। मुझे किसी ने कुछ सलाह दी, किसी ने कुछ। इतना सन्तोष ज़रूर है कि बहुत से लोगों ने पत्र-द्वारा तथा अन्य उपायों से मेरे साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की।

ज्योंही मैं बर्लिन पहुँचा, चैन्सलर मेरे पास आये और मेरे गुनाहों की मुझे याद दिलाने लगे। जब आपकी स्पीच पूरी हो गयी तब मुझे उस वक्तव्य पर सही करने को कहा जिसके विषय में संसार काफी जानता है और जो पीछे पत्रों में प्रकाशित हुआ था। मैंने उनकी बात मान ली और जो कुछ अख़बारों ने सुनाया

उसे चुपचाप सुन लिया। पर चैन्सलर के प्रति मेरा भाव पूर्ववत् न रहा, मन में एक गाँठ सी पड़ गयी। इसमें सन्देह नहीं कि उनका उद्देश अच्छा था, पर मुझे उनका यह व्यवहार बेतरह खटका। मैं समझता था कि इस तूफ़ाने बदतमीज़ी से वह हमारी पूरी रक्षा करेंगे, हमारा पूरा साथ देंगे, पर मुझे उनसे भी निराश होना पड़ा। हम दोनों के बीच अब पुराना रिश्ता न रहा, केवल सम्राट् और मंत्री का संबन्ध रह गया।

कुछ समय बाद एक दिन ब्यूलो ने मुझ से मिलने की इच्छा प्रकट की। हम दोनों देर तक महल में फिरते रहे और इधर-उधर की बातें करते रहे। अन्त में ब्यूलो ने १९०८ की बातों की चर्चा छेड़ी और अपनी सफाई दे गये। मैंने भी अपने मन की सारी बातें कह डालीं। इस स्पष्ट वार्तालाप से हम दोनों के बीच का मनमुटाव बहुत कुछ दूर हो गया। ब्यूलो ने कहा कि आज रात आप हमारे यहाँ भोजन करने की कृपा करें, जिससे संसार जान जाय कि फिर पहली बात आ गयी। मैंने वैसा ही किया। वास्तव में मैं यह दिखाना चाहता था कि देश के हित के लिये मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ। प्रिन्स ब्यूलो ने व्यवस्थापिका सभा में जो कुछ कहा था उससे मेरे हृदय को चोट ज़रूर पहुँची थी, पर मेरे लिये उनकी देश-सेवाओं या उनके गुणों को भूल जाना असंभव था। जिस समय टिरपिज़ की सहायता से मैं जर्मन जल-सेना का निर्म्माण कर रहा था उस समय यह ब्यूलो का ही काम था कि कई बार महासमर को रोक दिया, आग धधकने न दी। यह कुछ कम प्रशंसा की बात न थी।

कन्ज़रवेटिव पार्टी से कहा गया कि सम्राट् के पद का ख़याल

कर अपनी 'खुली चिट्ठी' वापस ले लो पर उसने इनकार कर दिया। लिबरल उनसे भी आगे बढ़ गये और साम्यवादियों का तो कहना ही क्या ! मेरे विरुद्ध यह आन्दोलन कई महीने ज़ोर-शोर से चला और सरकार ने इसे दबाने के लिये अपनी उँगली भी न हिलायी। चैन्सलर के मुझ से मिलने के बाद यह आप ही आप बन्द हो गया। पर पार्टियों की एकता तीन तेरह हो गयी और चैन्सलर के विरोधियों की संख्या कहीं से कहीं बढ़ गयी। जब ब्यूलो ने देखा कि अब ठहरने की कोई सूरत नहीं है तब उन्होंने सलाह दी कि हर फान बेथमैन को चैन्सलर का पद प्रदान किया जाय। सलाह-मशविरा करके मैंने उनकी राय मान ली और बेथमैन को बुला भेजा।

(४) बेथमैन

नये चैन्सलर से मेरी पुरानी जान-पहचान थी। १८७७ में उनके पिता से पहली बार मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था। उसके बाद मैं कई बार उनके घर पर गया। उनके पुत्र—बेथमैन—से मैं इसी प्रकार परिचित हो गया। बेथमैन में कई खास गुण थे, जिनके कारण मैं उन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। मंत्रिमंडल में उनके कार्य्य की काफ़ी प्रशंसा हो चुकी थी और व्यवस्थापिका सभा में भी वह सफलता प्राप्त कर चुके थे।

स्वभावतः हम दोनों के बीच पूर्ण सौहार्द और सहयोग था। मैं प्रायः रोज़ उनके घर जाता और उनके साथ टहलता हुआ सामयिक विषयों पर बातचीत करता। थोड़े ही समय में बेथमैन की सचाई का सिक्का दूसरे देशों पर भी जम गया।

उन्हें इँगलैंड की चालों पर खास तौर से नज़र रखनी

पड़ती थी। सप्तम एडवर्ड के बोये हुए बीज अब उग कर फलने लगे थे और जर्मनी पर चारों ओर से कूटनीति के आक्रमण आरंभ हो गये थे। फ्रान्स की प्रतिशोधपिपासा दिन दिन तीव्र होती जा रही थी और यह अनुभव होने लगा था कि रूस का विश्वास करना असंभव है। वेथमैन के समय में यह भी स्पष्ट हो गया कि युद्ध की दृष्टि से इटली से कुछ भी आशा करना व्यर्थ है।

१९०९ में—गद्दी पर वैठने के आठ वरस बाद—सप्तम एडवर्ड सस्त्रीक बर्लिन पधारे। जनता ने उनके भावों से परिचित होते हुए भी उनका हार्दिक स्वागत किया।

जर्मनी और फ्रान्स के बीच मोरक्को के संबन्ध में समझौता हो चुका था। मैंने सप्तम एडवर्ड को यह समाचार सुना कर कहा कि मुझे आशा है कि यह समझौता हम दोनों देशों के बीच, पूर्ण सौहार्द और सद्भाव का श्रीगणेश है। उन्होंने सिर हिलाते हुए केवल इतना ही कहा कि तथास्तु! अगर उन्होंने सच्चे हृदय से सहयोग किया होता तो मैं संभवतः अपने प्रयत्न में विफल न होता।

जर्मनी के लिये ऐसी परिस्थिति में आवश्यक था कि वह शान्ति के लिये प्रयत्नशील होता हुआ भी शक्तिशाली बना रहे। आत्मरक्षा हमारा पहला कर्तव्य था, इस कारण हम अपनी सेना की आवश्यकताओं को कभी न भूल सकते थे। दुश्मन हमें चारों ओर से घेर लेने की फ़िक्र में थे। जिमि दसनन्न विच जीभ विचारी—हमारी दशा ठीक यही हो रही थी। फिर अपनी सेना सुसज्जित किये बिना हम अपनी प्राणरक्षा की क्या आशा कर सकते थे?

सप्तम एडवर्ड की मृत्यु के कारण मुझे फिर इँगलैंड जाना पड़ा। वहाँ मैंने देखा कि अपने सम्राट् के वियोग से ब्रिटिश जनता शोकसागर में निमग्न सी हो रही है। पंचम जार्ज के इच्छानुसार मैं बकिंगहम पैलेस में ठहरा था।

१९०९ और १९१४ के बीच हमें अपने देश की आर्थिक दशा सुधारने की ओर विशेष ध्यान पड़ा।

हमारे चैन्सलर का एक गुण यह था कि वह हर बात की जड़ तक पहुँचने की कोशिश करते थे। जब तक उन्हें पूरा पता न लग जाय, उन्हें सन्तोष न हो जाय कि जो कुछ जानने योग्य था उन्होंने जान लिया—तब तक वह किसी काम में हाथ न डालते थे। इससे लाभ तो ज़रूर था, पर साथ ही हानि भी थी। किसी भी विषय में वह शीघ्र कोई निर्णय न कर सकते थे। इससे कभी कभी आवश्यक कार्य्य में भी अत्यन्त विलम्ब हो जाता था।

धीरे धीरे उनका स्वभाव यह हो चला कि वह अपनी बात के आगे दूसरे की सुनते ही न थे। बेतरह ज़िद्दी बन गये, और उनके साथ काम करना कठिन हो गया। कुछ मामलों में मैंने उनकी बात न मान कर उन्हें रुष्ट कर दिया।

वह शान्ति के सच्चे उपासक थे और उनका पक्का विश्वास था कि इँगलैंड के साथ जर्मनी का समझौता हो सकता है। नीति हम दोनों की एक ही थी। पर उनकी कार्य्यप्रणाली का मैं समर्थक न था। मैं बराबर उनका साथ देता गया, यद्यपि मैं जानता था कि वह कभी सफल न होंगे। उनके चैन्सलर रहते हुए ही यह बात प्रत्यक्ष हो चली कि वह वस्तुस्थिति से प्रायः

दूर जा पड़ते थे। फिर भी किसी भी विषय की जानकारी में कोई उनकी बराबरी करनेवाला न था। जो कुछ लिखते या कहते वह गहरी छानबीन, जाँच-पड़ताल के बाद। उनकी रिपोर्ट पढ़ते ही सारी परिस्थिति स्पष्ट हो जाती। मुश्किल यह थी कि अपने प्रस्ताव में ज़रा भी हेर फेर होने देना उन्हें मंजूर न होता। अपनी बात पर अड़ जाते और आख़िर तक यही कहते रहते कि दूसरा रास्ता हो ही नहीं सकता। लोग भी उनकी विद्वत्ता और गंभीरता को देखते हुए यही मान लेते कि जो कुछ यह कह रहे हैं वही ठीक है, औरों की बात में कुछ भी तथ्य नहीं। फिर भी सच पूछा जाय तो बेथमैन से एक नहीं अनेक भूलें हुईं!

हमारे देश पर जो विपत्ति आयी उसमें बेथमैन का भी हाथ था। १९१४ में महासमर छिड़ने पर उन्होंने इस्तीफ़ा तो न दिया, पर यह स्वीकार किया कि उनकी राजनैतिक धारणायें निर्मूल निकलीं।

मैंने उस समय उन्हें अपने पद से हटा कर दूसरे को नियुक्ति करना मुनासिब न समझा। इससे अपने देश की पूर्ण एकता में बाधा पड़ने का डर था। मुझसे यह भी कहा गया कि मजूर-दल बेथमैन का समर्थक है, और किसी दूसरे को उनकी जगह चैंसलर बनाने से मजूरों में असन्तोष फैलने की संभावना है। इस प्रकार वह चैंसलर बने रहे। पर अन्त में कई कारण ऐसे आ पड़े कि उन्हें हटाना ही पड़ा। उस समय जाँच कराने से मालूम हुआ कि मजूरदलवाली बात ग़लत थी।

मैं इसके लिये बेथमैन को दोषी नहीं ठहराता। पर सत्य के अनुरोध से मुझे परिस्थिति पर प्रकाश डालना ही पड़ता है।

व्यक्तिगत रूप से वेथमैन में कुछ भी परिवर्त्तन नहीं हुआ था—उनके भाव अब भी वही थे जो पहले थे।

वेथमैन की कार्य्य-प्रणाली का एक नमूना मैं यहाँ पेश करता हूँ। १९१४–१५ के शीतकाल में मैंने अपनी सेना की धीरता और वीरता देखकर यह निश्चय किया कि इन देशभक्तों को कुछ राजनैतिक पुरस्कार देना चाहिए। मेरा इरादा था कि प्रशिया के चुनावों में ऐसे सब लोग वोटर समझे जायँ जो महासमर में लड़ चुके थे। मैंने इस संबन्ध में एक स्कीम भी तैयार करायी और चैन्सलर से कहला दिया कि इस साल के भीतर आपका मंत्रि-मंडल इसका विचार कर ले और मुझे अपने विचारों की सूचना दे दे। सुधार-योजना, शान्ति-संस्थापन के वाद, काम में आने वाली थी।

इसके वाद ही मैं लड़ाई पर चला गया। १९१६ तक मुझे और वातों की ओर ध्यान देने की फुरसत न मिली। घटना-चक्र इस तेज़ी से चलता रहा कि एक के वाद दूसरी गंभीर परिस्थिति उत्पन्न होती गयी और मुझे उन्हीं बातों में व्यस्त रहना पड़ा। १९१७ में मैंने चैन्सलर से कहा कि सुधारों के संबन्ध में मुझे घोपणा करनी है, आप उसकी तैयारी कर लीजिए। उन्होंने घोपणापत्र तैयार किया और वह प्रकाशित भी हो गया। सुधारों को काम में लाने का समय शान्ति स्थापित हो जाने के वाद रक्खा गया, क्योंकि वोटरों में अधिकांश अपने देश से वाहर लड़ाइयों में भाग ले रहे थे, इस समय कुछ करने से उनका कोई लाभ न होता।

पर दलबन्दी के आधार पर जीनेवालों ने, अखबारों की

सहायता से, और ही परिस्थिति उत्पन्न कर दी। लड़ाई-झगड़े, गाली-गलौज की नौबत पहुँच गयी। माँग यह पेश की गयी कि प्रशिया की ओर से जर्मन पार्लमेंट के लिये जो चुनाव होंगे उनके संबन्ध में सुधार किये जायँ, और सो भी फौरन—महासमर की धधकती हुई आग के बीच में! वादविवाद बढ़ता ही गया और मेरी आशाओं पर पानी फिर गया।

पर मुझे यह बात वेथमैन के हटने पर मालूम हुई कि जो स्कीम मैंने उन्हें दी थी वह मंत्रियों के सामने कभी पेश ही नहीं हुई। डेढ़ बरस तक वह चैन्सलर की मेज़ की दराज में पड़ी सड़ती रही। उन पर सुधार-संबन्धी झगड़े का ऐसा असर पड़ा कि और स्कीमों को ताक पर रखकर वह केवल ऐसी स्कीम के पीछे पड़ गये जिससे राइसटैग—जर्मन पार्लमेंट—के लिये होनेवाले चुनावों में सुधार हो।

मैं अपने प्रशियन वीरों को लड़ाई से लौटने पर, अपने मन से कुछ उपहारस्वरूप देना चाहता था, पर वेथमैन की दीर्घसूत्रता और देश की दलबन्दी ने वह होने न दिया।

१९१० में रूस के ज़ार जर्मनी पधारे। उन्हें शिकार का अच्छा शौक था, इसलिये इसका ख़ासा प्रबंध किया गया था। वह अपने साथ अपने नये पर-राष्ट्र-सचिव को भी लेते आये थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे मंत्री और उनके बीच राजनीति के संबन्ध में बहुतेरी बातें हुईं और दोनों को आशा हुई कि जर्मनी और रूस अब आपस में सच्ची दोस्ती का बर्ताव रक्खेंगे।

१९११ के आरंभ में मुझे पंचम जार्ज का पत्र मिला कि महारानी विक्टोरिया की मूर्ति का उद्घाटन होनेवाला है, इस

अवसर पर आप अवश्य आने की कृपा करें। उनका निमंत्रण स्वीकार कर मैं मई के बीच में, अपनी स्त्री और कन्या के साथ लंदन गया। हम लोगों का वहाँ हार्दिक स्वागत हुआ। मूर्ति का उद्‌घाटन बड़ी धूमधाम से किया गया। पंचम जार्ज ने अपने भाषण में हम लोगों की उपस्थिति का भी उल्लेख किया। इंगलैंड में हम लोगों का बाक़ी समय आमोद-प्रमोद में कटा।

चैन्सलर ने मुझे एक काम सौंपा था। मोरक्को में फ्रान्स की कारखाइयों की ओर संसार की दृष्टि जाने लगी थी, इसलिये उन्होंने कहा था कि इस विषय में पंचम जार्ज का क्या मत है, यह जानने की चेष्टा करेंगे। मैंने पंचम जार्ज से पूछा कि आपके विचार क्या हैं? उनके उत्तर से जान पड़ा कि इंगलैंड ने परिस्थिति स्वीकार कर ली थी और फ्रान्स के मार्ग में रोड़े अटकाने को तैयार न था। मैंने लौटने पर चैन्सलर को यह समझा दिया।

१९१२ के पूर्वार्द्ध में इँगलैंड ने सर अर्नेस्ट कैसेल की मार्फ़त यह कहलाया कि अगर जर्मनी अपनी जल-सेना की हद बाँध दे—उसे बढ़ाता न जाय—तो इँगलैंड इस बात के लिये तैयार है कि जर्मनी पर किसी भी देश की ओर से अनुचित आक्रमण होने पर, वह स्वयं तटस्थ रहेगा। जर्मनी का उत्तर अनुकूल मिलने पर इस विषय में और बातचीत करने के लिये लार्ड हाल्डेन भेजे गये। पर अन्त में इँगलैंड की नीति के कारण इसका कोई नतीजा न निकला और बात जहाँ की तहाँ रह गयी। बात यह थी कि इँगलैंड को डर हुआ कि जर्मनी के साथ इस प्रकार का समझौता हो गया तो फ्रान्स और रूस दोनों ही रुष्ट हो जायँगे।

२९ जनवरी, १९१२ के प्रातःकाल की बात है। हर बालिन

अचानक राजप्रासाद में पहुँचे और कहलाया कि मैं मुलाकात चाहता हूँ। मिलने पर बोले कि सर अर्नेस्ट कैसेल एक विशेष कार्य्य से बर्लिन आये हैं और मुझे आपकी सेवा में भेजा है।

मैंने पूछा कि वह किसी राजनैतिक कार्य्य से आये हैं क्या? और अगर बात ऐसी है तो इँगलैंड के राजदूत की मार्फत यह काम क्यों नहीं कराया गया ?

वालिन ने कहा कि कार्य्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और ब्रिटिश मंत्रिमंडल का आदेश है कि किसी सरकारी कर्म्मचारी या राजदूत को इसकी खबर न हो।

मैंने कहा कि जब राजनैतिक कार्य्य से वह आये हैं तब चैन्सलर को तो बुलाना ही होगा। मैं नियमवद्ध हूँ और चैन्सलर की अनुपस्थिति में या बिना उनकी सलाह के, किसी दूसरे राष्ट्र के प्रतिनिधि से ऐसी बातें नहीं कर सकता।

खैर, कैसल आये और मुझे एक कागज पढ़ने को दिया। इसके विषय में कहा गया कि यह अँगरेज सरकार की स्वीकृति से लिखा गया था। इसमें वही बात थी कि अगर जर्मनी अपनी जल-सेना को परिमित कर दे तो इँगलैंड, भविष्य में युद्ध छिड़ने पर, तटस्थ रहेगा। मुझे आश्चर्य हुआ और बगल के कमरे में जाकर मैंने वह कागज़ बालिन के हाथ में दे दिया। उनके भी आश्चर्य्य की सीमा न रही!

इँगलैंड अपनी "वैध-शासन-प्रणाली" का ढिंढोरा पीटता है, पर देखिए ज़रूरत पड़ने पर वह कैसे उपायों का अवलम्बन कर सकता है! सप्तम एडवर्ड के एक अन्तरंग मित्र दूत बनाकर भेजे जाते हैं, ब्रिटिश मंत्रिमंडल की ओर से वह सन्देश—या यों कहिए

कि प्रतिज्ञापत्र—लाते हैं कि अगर जर्मनी ने हमारी शर्त मंजूर कर ली तो हम युद्ध में तटस्थ रहेंगे। पर ऐसा गुरुतर कार्य ब्रिटिश राजदूत को नहीं सौंपा जाता, और तो क्या उन्हें या उनके विभाग को इसकी सूचना तक नहीं दी जाती। अगर वैध शासन इसका नाम है तो इँगलैंड ज़रूर अपनी प्रणाली का गर्व कर सकता है। पर फिर इसमें और वैयक्तिक शासन में क्या अन्तर रह जाता है?

मैंने बेथमैन को टेलीफोन से बुलवाया। वह भी आश्चर्य्य-चकित हो गये! उनकी राय हुई कि जलसेना-विभाग के अध्यक्ष टिरपिज़ भी बुलाये जायँ और उत्तर अंगरेज़ी में ही दिया जाय। सर अर्नेस्ट कैसेल उसी रात की ट्रेन से लौटना चाहते थे। चैन्सलर ने मुझ से कहा कि हम लोगों में आप की तरह किसी को अँगरेज़ी नहीं आती, इसलिये उत्तर आप ही को लिखना होगा। मुझे पहले तो आपत्ति हुई पर उनका आग्रह देख कर मैं तैयार हो गया।

इस काम में कई घण्टे लग गये। चैन्सलर बेथमैन बाल की खाल खींचने वाले थे। एक एक शब्द को तोल कर रखना चाहते थे। भाव और भाषा दोनों को अपनी समालोचना की कसौटी पर जब खूब कस चुके—व्याकरण की बारीकियों की और राजनीति की दृष्टि से जब किसी को कोई आपत्ति न रह गयी—तब सब ने उस पर दस्तख़त किये और वह कैसेल को दे दिया गया।

जब उनसे यह पूछा गया कि इस विषय में और बातचीत करने के लिये फिर कौन भेजा जायगा तो उन्होंने कहा कि संभवतः जलसेना-विभाग के मंत्री मि० चर्चिल स्वयं आवेंगे।

उस समय जर्मन पार्लमेंट में जलसेना-संबन्धी एक बिल

अचानक राजप्रासाद में पहुँचे और कहलाया कि मैं मुलाकात चाहता हूँ। मिलने पर बोले कि सर अर्नेस्ट कैसेल एक विशेष कार्य्य से बर्लिन आये हैं और मुझे आपकी सेवा में भेजा है।

मैंने पूछा कि वह किसी राजनैतिक कार्य्य से आये हैं क्या? और अगर बात ऐसी है तो इँगलैंड के राजदूत की मार्फत यह काम क्यों नहीं कराया गया ?

बालिन ने कहा कि कार्य्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और ब्रिटिश मंत्रिमंडल का आदेश है कि किसी सरकारी कर्म्मचारी या राजदूत को इसकी खबर न हो।

मैंने कहा कि जब राजनैतिक कार्य्य से वह आये हैं तब चैन्सलर को तो बुलाना ही होगा। मैं नियमबद्ध हूँ और चैन्सलर की अनुपस्थिति में या बिना उनकी सलाह के, किसी दूसरे राष्ट्र के प्रतिनिधि से ऐसी बातें नहीं कर सकता।

खैर, कैसल आये और मुझे एक कागज पढ़ने को दिया। इसके विषय में कहा गया कि यह अँगरेज सरकार की स्वीकृति से लिखा गया था। इसमें वही बात थी कि अगर जर्मनी अपनी जल-सेना को परिमित कर दे तो इँगलैंड, भविष्य में युद्ध छिड़ने पर, तटस्थ रहेगा। मुझे आश्चर्य हुआ और बगल के कमरे में जाकर मैंने वह कागज़ बालिन के हाथ में दे दिया। उनके भी आश्चर्य्य की सीमा न रही!

इँगलैंड अपनी "वैध-शासन-प्रणाली" का ढिंढोरा पीटता है, पर देखिए ज़रूरत पड़ने पर वह कैसे उपायों का अवलम्बन कर सकता है! सप्तम एडवर्ड के एक अन्तरंग मित्र दूत बनाकर भेजे जाते हैं, ब्रिटिश मंत्रिमंडल की ओर से वह सन्देश—या यों कहिए

कि प्रतिज्ञापत्र—लाते हैं कि अगर जर्मनी ने हमारी शर्तं मंजूर कर ली तो हम युद्ध में तटस्थ रहेंगे। पर ऐसा गुरुतर कार्य ब्रिटिश राजदूत को नहीं सौंपा जाता, और तो क्या उन्हें या उनके विभाग को इसकी सूचना तक नहीं दी जाती। अगर वैध शासन इसका नाम है तो इँगलैंड जरूर अपनी प्रणाली का गर्व कर सकता है। पर फिर इसमें और वैयक्तिक शासन में क्या अन्तर रह जाता है?

मैंने बेथमैन को टेलीफोन से बुलवाया। वह भी आश्चर्य्य-चकित हो गये! उनकी राय हुई कि जलसेना-विभाग के अध्यक्ष टिरपिज़ भी बुलाये जायँ और उत्तर अंगरेज़ी में ही दिया जाय। सर अर्नस्ट कैसेल उसी रात की ट्रेन से लौटना चाहते थे। चैन्सलर ने मुझ से कहा कि हम लोगों में आप की तरह किसी को अँगरेज़ी नहीं आती, इसलिये उत्तर आप ही को लिखना होगा। मुझे पहले तो आपत्ति हुई पर उनका आग्रह देख कर मैं तैयार हो गया।

इस काम में कई घण्टे लग गये। चैन्सलर बेथमैन बाल की खाल खींचने वाले थे। एक एक शब्द को तोल कर रखना चाहते थे। भाव और भाषा दोनों को अपनी समालोचना की कसौटी पर जब ख़ूब कस चुके—व्याकरण की बारीकियों की और राजनीति की दृष्टि से जब किसी को कोई आपत्ति न रह गयी—तब सब ने उस पर दस्तख़त किये और वह कैसेल को दे दिया गया।

जब उनसे यह पूछा गया कि इस विषय में और बातचीत करने के लिये फिर क़ौन भेजा जायगा तो उन्होंने कहा कि संभवतः जलसेना-विभाग के मंत्री मि० चर्चिल स्वयं आवेंगे।

उस समय जर्मन पार्लमेंट में जलसेना-संबन्धी एक बिल

पेश होने वाला था, और हम लोगों को इँगलैंड की इस चाल से इतना स्पष्ट हो गया कि वह बिल खतरे में है और हम सब को खूब सावधान हो जाना चाहिए।

अन्त में बालिन की मार्फत समाचार मिला कि इस विषय में बसीठी करने हाल्डेन आ रहे हैं! सब लोग चकित हो गये। हाल्डेन का पेशा वकालत था और वह पहले समर-विभाग के मंत्री रह चुके थे। हम लोगों की समझ में यह बात न आयी कि जल-सेना-संबन्धी विषय में समझौते के लिये हाल्डेन क्यों आ रहे हैं!

तर्क वितर्क होने लगा। किसी ने कुछ बताया किसी ने कुछ। मैंने निवेदन किया कि हाल्डेन को भेजने का अर्थ है कि इँगलैंड इस प्रश्न को राजनैतिक समझता है। जलसेना-संबन्धी बातों को हाल्डेन भले ही बहुत कम जानते या समझते हों, पर वह राजनीतिज्ञ ऊँचे दर्जे के हैं, इसी लिये भेजे जा रहे हैं।

हाल्डेन आये और सरकारी महमान बने। बालिन ने उनके आने का भेद यह बताया:—

जब कैसेल लौट कर लंदन पहुँचे और मंत्रिमंडल को हमारा उत्तर देकर अपना अनुभव कह सुनाया तब सब ने आशा प्रकट की कि समझौता ज़रूर हो जायगा। अब प्रश्न उठा कि बाक़ी मंजिल तय करने के लिये कौन भेजा जाय? सर एडवर्ड ग्रे और मि० चर्चिल आपस में झगड़ पड़े। जर्मनी की जलसेना की उन्नति रोक देने का सुयश लूटने के लिये प्रत्येक लालायित था। चर्चिल का कहना था कि जलसेना-विभाग का मंत्री मैं हूँ, यह क्षेत्र मेरा है, इस लिये मैं जाऊँगा। पर प्रधान सचिव ऐस्क्विथ और पर-राष्ट्र-सचिव ग्रे दोनों इसके विरुद्ध थे। प्रत्येक दृष्टि से विचार

करने के बाद मन्त्रिमण्डल ने निश्चित किया कि इस काम के लिये हाल्डेन भेजे जायँ।

मैंने टिरपिज़ से बातचीत में कहा कि "हाल्डेन समर-विभाग के मन्त्री हैं पर यह समझना भूल है कि वह जलसेना-संबन्धी बातों से कोरे हैं। उन्होंने इस नये काम के लिये ज़रूर तैयारी की होगी और उन्हें जलसेना-विभाग से भी सलाह मिली होगी। इस विभाग में फिशर का बड़ा भारी प्रभाव है। उस शख़्स ने अपने विभाग के अफसरों के लिये जो पुस्तक लिखी है उसमें एक जगह यह आदेश है कि अगर एक बार झूठ बोल जाओ तो उस पर दृढ़ रहो! वास्तव में फिशर और उनके विभाग का यह मूलमंत्र है और हम सब को यह याद रखना चाहिए। फिर अंगरेज़ जाति की शिक्षा-दीक्षा कुछ ऐसी होती है कि वह एक क्षेत्र छोड़ कर दूसरे क्षेत्र में बहुत जल्द अपना घर कर सकता है। हाल्डेन जब कानून से समर-विभाग में पहुँच गये तब तो जलसेना-विभाग उनके लिये कहाँ तक दूर हो सकता है। और यह भी तो ध्यान में रखने की बात है कि इँगलैंड में सर्व-साधारण जलसेना-विषयक बातों से बहुत सम्बन्ध रखते हैं,—वहाँ का प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति, और देशों की तुलना में ऐसी बातों का विशेषज्ञ कहा जा सकता है।"

हाल्डेन ठीक वैसे ही निकले जैसा हमारा ख़याल था। घंटों बातचीत होती रही और इसके फलस्वरूप कुछ बातों पर हम लोग सहमत भी हो गये। हाल्डेन अपने मुल्क के अच्छे वकील थे, और उन्होंने इस मौके पर भी बड़ा अच्छी वकालत की। इसके बाद भी हम लोग आपस में कई बार मिले और इस

विषय पर विचार किया। हाल्डेन ने अपनी यात्रा की सफलता पर सन्तोष प्रकट किया और चलते समय बालिन से कहा कि एक दो हफ्ते में इकरारनामे का मज़मून इँगलैंड से आ जायगा।

हम लोग प्रतीक्षा करते रहे, पर कोई इकरारनामा न आया। अन्त में एक ख़त आया जिसमें तरह तरह के सवाल किये गये थे, तरह तरह की बातें जानने की इच्छा प्रकट की गयी थी। धीरे धीरे हम लोगों की यह धारणा पुष्ट हो चली कि इँगलैंड वास्तव में किसी प्रकार का समझौता नहीं चाहता, बल्कि एक चाल चल कर हमें धोखा देना चाहता है।

ठीक इसी समय जर्मनी में जलसेना-संबन्धी बिल के—और मेरे तथा टिरपिज़ के—विरुद्ध ज़ोरों का आन्दोलन चल पड़ा। यहाँ तक कि चैन्सलर भी बिल के विरोधी बन गये। उन्हें आशा थी कि इँगलैंड से समझौता हो गया तो उनका नाम इतिहास में अमर हो जायगा। यह ख़याल न था कि अगर हमारी जलसेना सुसज्जित न हो सकी तो युद्ध छिड़ने पर हम हर्गिज अपनी रक्षा न कर सकेंगे और हमें हर बात में इँगलैंड का मुँह ताकना पड़ेगा।

इस विषय में मैं प्रशंसा करूँगा तो टिरपिज़ की। वह तनिक भी विचलित न हुए और सच्चे वीर की तरह अपनी तथा अपने देश की लड़ाई लड़ते रहे।

इँगलैंड ने अब समझौते का नाम लेना भी छोड़ दिया। हाँ, जर्मनी में उस बिल पर बड़ी सरगर्मी से बहस होने लगी, कुछ लोग उसका गला घोंटने पर उतारू हो गये। टिरपिज़ को और मुझे यह बात साफ़ दीखने लगी कि इँगलैंड ने यह सारी भूमिका इसी लिये बाँधी थी।

इस प्रसंग से इँगलैंड की कूटनीति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसका एकमात्र उद्देश था जर्मनी को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना। अमेरिका, फ्रान्स, रूस—सभी अपनी २ जल-सेना बढ़ाने की तैयारियाँ कर रहे थे, पर इँगलैंड को इसमें कोई आपत्ति न थी। उसे जो कुछ आपत्ति थी जर्मनी के संबन्ध में, इसी लिये यह चाल चली गयी थी।

वास्तव में जहाज़ी बेड़ा हमारे लिये आत्मरक्षा का साधन-मात्र था। फ्रान्स और रूस के बीच में दबे हुए जर्मन-देश के लिये यह अत्यन्त आवश्यक था कि वह कम से कम समुद्र-मार्ग से अपने ऊपर आक्रमण न होने दे। हमारी इस विषय में इँग-लैंड से प्रतियोगिता न थी। हम जो कुछ कर रहे थे अपनी जान बचाने के लिये। हाल्डेन के विषय में एक बात और लिख कर यह प्रकरण समाप्त करूँगा। १९०६ में वह जर्मन सरकार की अनुमति से बर्लिन आये और जर्मन सेना के संबन्ध में कितनी ही बातों की जानकारी हासिल कर के, दो तीन हफ्ते बाद, लौट गये।

महासमर छिड़ने पर हाल्डेन को कुछ अखबारों ने बेतरह बदनाम कर दिया। कहा गया कि वह जर्मन कवि गेटे के भक्त और जर्मनी के पक्षपाती थे। उनका ऐसा विरोध हुआ कि सार्वजनिक जीवन से उन्हें बिलकुल हट जाना पड़ा। अपनी सफ़ाई में बेगबी नामक अख़बारनवीस से उन्हें एक पुस्तक लिखानी पड़ी जिसमें यह दिखाया गया है कि समर-विभाग के मंत्री की हैसियत से उन्होंने अपने देश की कैसी सेवायें कीं। उस पुस्तक में और बातों के साथ यह भी लिखा गया है कि हाल्डेन ने अपनी चतुरता से, जर्मन सरकार की सहायता प्राप्त

कर, जर्मन सेना के विषय की एक एक बात का पता लगा लिया था और उसी ज्ञान के आधार पर उन्होंने ब्रिटिश सेना को नये सिरे से संगठन किया और उसे इस योग्य बना दिया कि वह भावी महासमर के लिये हर घड़ी तैयार रहे।

चालाकी इसे कहते हैं। अतिथि हो कर दूसरे देश में जाना, और अपनी पद प्रतिष्ठा से अनुचित लाभ उठा कर इस तरह की जासूसी करना—सचमुच यह साधारण व्यक्ति का काम न था। हाल्डेन का सफ़ाई में लिखी गई यह पुस्तक "सप्तम एडवर्ड" को समर्पित की गयी है। यह बहुत ठीक जान पड़ता है। हाल्डेन को बर्लिन भेजने वाले और उनसे ऐसा काम निकालने वाले एडवर्ड ही थे!

हाल्डेन की यात्राओं की असलियत मैंने बता दी। पर मुझे याद है कि जब उनकी दूसरी यात्रा का कुछ भी नतीजा न निकला तब कई अख़बारों में यह लिखा गया कि जर्मन सम्राट् और जल-सेनापति टिरपिज के हठ के कारण इँगलैंड से कोई समझौता न हो सका!

१९१२ में ज़ार द्वारा निमंत्रित हो कर मैं बाल्टिक पोर्ट में उनसे मिलने गया। वहाँ उनके बच्चे भी उनके साथ थे। हम दोनों की किश्तियों ने सटकर लंगर डाले जिससे दोनों के बीच आना-जाना बहुत आसान हो गया। कभी ज़ार मेरी किश्ती पर भोजन करने आते, कभी मैं उनकी किश्ती पर जाता। मेरे स्वागत की बड़ी तैयारी की गयी थी। पर यह मुझे किसी ने न बताया कि कुछ ही समय पहले बाल्कन-प्रदेश के संबन्ध में एक महत्वपूर्ण सन्धि हो चुकी थी। लड़ाई से पहले की यह मेरी अन्तिम रूस-यात्रा थी।

तीसरा अध्याय

शिक्षा और संस्कृति

जर्मन स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा कितनी अधूरी थी इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव था। भाषा-शास्त्र पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता कि और विषयों की उपेक्षा हो जाती।

१८७४ से १८७७ तक मैं कैसेल हाई स्कूल में था। जर्मन साम्राज्य का जन्म हो चुका था और लड़कों में उत्साह और उमङ्ग की कमी न थी। फिर भी मैंने देखा कि उनमें देशभक्ति जैसी चाहिए वैसी न थी। मैं चाहता था कि प्रत्येक की हृत्तन्त्री से यह सुर निकले कि मैं जर्मन हूँ, और उसे इसका अभिमान हो—पर शिक्षा-प्रणाली दूषित होने के कारण देश इस विषय में अभी बहुत पिछड़ा हुआ था। नौजवानों में यह नया भाव भरना तत्कालीन प्रणाली की शक्ति के बाहर था।

इसका एक उदाहरण लीजिए। हमारे देश में इतिहास की पढ़ाई अत्यन्त असन्तोषजनक थी। देशाभिमान जाग्रत करना, देश का भविष्य समुज्ज्वल करने की लालसा उत्पन्न करना—यह इतिहास का काम है। पर जर्मनी में इस शास्त्र की उपयोगिता अभी तक लोगों की समझ में ठीक तौर से नहीं आयी थी। प्राचीन इतिहास जरूर पढ़ाया जाता था, पर अर्वाचीन इतिहास—खास कर १८१५ के बाद का इतिहास—'अछूत' समझा जाता था। शब्द-शास्त्रविद् जरूर पैदा होते थे—भाषा के सूक्ष्म से

सूक्ष्म भेद जाननेवालों की कमी न थी—पर ऐसे नागरिकों का अभाव सा था जिनसे नवजात जर्मन साम्राज्य की परिपुष्टि में सहयोग प्राप्त होता, जो उसके बलविस्तार के लिये कुछ ठोस काम कर दिखाते।

थोड़े में कहें तो कह सकते हैं कि ऐसे नवयुवक नहीं तैयार हो रहे थे जो उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते यह ख़याल रखते कि हम जर्मन हैं, जर्मनी हमारा देश है। मुझसे उस समय भी जहाँ तक बन पड़ता मैं बृहत्तर जर्मनी के भाव का प्रचार करने का उद्योग करता—पर अपनी शिक्षा-दीक्षा के कारण लोगों की दृष्टि इतनी संकुचित हो रही थी कि वे इसका महत्व समझने को—अपनी तंग गलियों से निकल कर राष्ट्रीयता की चौड़ी सड़क पर आने को—तैयार न थे।

मेरे देखने में यह भी आया कि नौजवानों में सरकारी नौकरी की बड़ी प्रबल लिप्सा थी। किस क्षेत्र में मुझे प्रवेश करना चाहिए—इस पर विचार करते समय प्रत्येक नवयुवक का ध्यान सबसे पहले सरकारी नौकरी की ओर जाता। वकालत का पेशा भी बड़ा ही स्पृहणीय था, और उसके बाद जज के पद तक पहुँच जाना लोगों का अन्तिम ध्येय था।

वास्तव में हमारे साँचे पुराने हो चले थे, इसलिये यह आशा करना व्यर्थ था कि उनसे हमारी नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन ढल सकेंगे। हमारे देश में इस समय भी सरकार का कर्तव्य वही समझा जाता था जो बरसों पहले प्रशिया जैसे छोटे प्रदेश की सरकार का था। ऊपर से नीचे तक सबके सब कूप-डूमंक हो रहे थे, किसी को ख़बर ही न थी कि राजा या प्रजा

का वह अर्थ अब न रहा और जर्मनी को भी समय के अनुकूल चलना होगा।

ग्रेटब्रिटेन की अवस्था और थी। वहाँ के नवयुवकों को स्वावलम्बन का पाठ खास तौर से पढ़ाया जाता था, इसलिये उनकी मनोवृत्ति यह हो रही थी कि किस प्रकार संसार में नये उपनिवेश क़ायम किये जायँ, नये स्थानों का पता लगाया जाय, ब्रिटिश व्यापार का क्षेत्र बढ़ाया जाय। वहाँ सब के सब स्वतंत्र होकर—सरकारी नौकरी करके नहीं—ग्रेटब्रिटेन का मस्तक ऊँचा करने का, उसकी बल-वृद्धि करने का हौसला रखते थे। बात यह थी कि इँगलैंड हम से सदियों आगे था। जिस समय हमारे यहाँ कुछ हाकिमों की हुकूमत का ही नाम सरकार था उस समय ब्रिटिश सरकार को यह अभिमान था कि वह ऐसे साम्राज्य का केन्द्र है जिसमें सूर्य्यास्त नहीं होता।

पर अब समय बदल रहा था, जर्मनी में भी युगान्तर हो रहा था। संसार में अपना स्थान ग्रहण करने के लिये हमारा देश भी कमर कस चुका था। ऐसी दशा में हमारे नवयुवकों के विचारों में परिवर्त्तन की आवश्यकता थी, पर वह परिवर्तन बड़ी ही धीमी चाल से हो रहा था। मैं जब अपने देश के युवकों की ब्रिटिश युवकों से तुलना करता तो मुझे बड़ा दुःख होता। वहाँ के युवकों को लैटिन और ग्रीक भाषायें ज़रूर कम आती थीं, पर हमारे यहाँ के युवकों की तरह वे न तो क़िताबों के बोझ से दबे जा रहे थे, न अपना स्वास्थ्य खोकर पीले नजर आते थे। जर्मनी में सभी एक से थे, यह मैं नहीं कहता, पर इतना ज़रूर है कि नये खयालात के लोग बहुत कम थे। मैं अपने देशवासियों

को बराबर यह सलाह देता कि इँगलैंड का अनुकरण करना सीखो। अच्छी बात चाहे जहाँ हो, सब को सीखनी चाहिए।

मैंने शिक्षा-प्रणाली में बहुत कुछ सुधार कराया। प्राचीन पन्थी समाज ने मेरा घोर विरोध किया, पर मैं विचलित न हुआ। फिर भी इतना ज़रूर कहूँगा कि मैं जो चाहता था वह न हुआ और सुधार के वृक्ष में जिन फलों की मैंने आशा की थी वे न लगे।

संकट पड़ने पर जर्मन जाति ने अपने शत्रुओं की बात मान कर, अपने सम्राट् का साथ छोड़ दिया और अपने साम्राज्य को छिन्न भिन्न करा दिया। रूस के कुचक्रियों के कहने से उसने अपनी सेना के प्रति विश्वासघात किया और जिस समय वह दुश्मनों के सामने सीना कर, लड़ने में लगी हुई थी उसी समय उसकी पीठ में खंजर घुसेड़ दिया।

मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि इसके लिये हमारी शिक्षा-पद्धति दोषी थी। अगर प्रत्येक श्रेणी के लोगों को देश-प्रेम और देशाभिमान सिखाया गया होता तो जर्मनी का ऐसा अधःपात न होता। इँगलैंड में खेलकूद पर जितना ज़ोर दिया जाता है उतना हमारे देश में नहीं, फिर हमारे देश के युवकों को इतनी चीज़ें रटायी जाती हैं कि उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। फिर भी इस लड़ाई में वे जिस वीरता से लड़े उसकी मिसाल कहीं मिलने की नहीं। दुःख है तो यही कि जनता ने अपने वीरों का आदर करना तो दूर रहा उनका साथ तक न दिया— और इसका कारण यह था कि उसे उचित शिक्षा न मिली थी।

१९१४–१८ के इतिहास से यह स्पष्ट हो गया कि कमी गुणों की नहीं वल्कि उनके विकास की थी। हज़ारों उदाहरण इस

बात की पुष्टि करने वाले मिलते हैं कि जर्मन जाति अगर एक बार अपने कर्तव्य को पहचान ले तो उसकी वेदी पर आत्म-बलिदान करने में कोई दूसरी जाति उसकी बराबरी नहीं कर सकती। हमारी जाति को कभी आत्म-विस्मृति न हो, वह बराबर उसी मार्ग से चले जिस मार्ग से उसके लाखों वीर महासमर के इतिहास में गये—यही हमारी ईश्वर से प्रार्थना है।

कला और विज्ञान से मुझे विशेष प्रेम था और मैंने अपने शासन-काल में इनके प्रचार के लिये कुछ भी उठा न रक्खा। टेकनिकल हाई स्कूलों की पढ़ाई में सुधार करने के लिये मैंने अच्छे से अच्छे शिक्षक नियुक्त कराये। मैंने इन स्कूलों को प्रशिया की राज्यसभा (Upper Chamber) में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्रदान कर, इन्हें इस विषय में, विश्वविद्यालयों की श्रेणी में ला दिया।

संसार में जर्मनी का व्यापार-क्षेत्र बढ़ाने के लिये और देशों की प्रतियोगिता को विफल करने की आवश्यकता थी। मैंने देखा कि इस कार्य्य में वैज्ञानिकों का सहयोग प्राप्त किये बिना सफलता नहीं मिल सकती, पर उनकी कठिनाई यह थी कि समयाभाव के कारण वे तत्त्वानुसन्धान या गवेषणा का काम सन्तोषजनक रीति से न कर सकते थे। पढ़ाई के काम में उनका इतना अधिक समय लग जाता था कि और कामों के लिये अवकाश मिलना कठिन था। विकट समस्याओं को हल करने के लिये उनके पास न समय था, न साधन थे, न स्वतंत्रता थी। छुट्टी के दिनों में वे कुछ काम कर लेते थे, पर इस प्रकार अधिक काम करने से उनका स्वास्थ्य चौपट हो जाता था।

आज यह अवस्था नहीं है। मैंने अनवरत उद्योग कर के वैज्ञानिकों के लिये तरह तरह की सुविधायें करा दीं। रसायन की उन्नति के लिये मैंने एक समिति स्थापित की और उसकी ओर से कितनी ही प्रयोगशालायें खुलवायीं। इस समिति ने जर्मनी के लिये क्या किया यह सभी जानते हैं। विज्ञान में जर्मनी थोड़े ही समय में बहुत आगे बढ़ गया और उसकी करामातों को देख कर संसार आश्चर्य्यचकित होने लगा। समिति फूलती फलती रहे और विज्ञान की उन्नति के द्वारा अपने देश का गौरव बढ़ाती रहे।

मेरे शासन-काल के आरम्भ में ही कई इमारतें बनाने की ज़रूरत पड़ी। बर्लिन के राजाप्रसाद की हालत बहुत बुरी हो रही थी। मैंने धीरे धीरे उसमें बहुत कुछ सुधार किया। मेरे शासन के तीस बरस में इन इमारतों का कायापलट हो गया। पर जिस राजप्रासाद के जीर्णोद्धार में इतना पैसा ख़र्च हुआ, इतनी विद्या-बुद्धि, इतनी कला-कुशलता का उपयोग हुआ, उसी पर कुछ काल बाद बागियों की ओर से गोले बरसाये गये और वह तहस-नहस कर दिया गया। वास्तव में सरकार का चाहे जो रूप हो, ऐसी इमारतों की रक्षा करना, उनका अस्तित्व और उनकी विशेषता नष्ट न होने देना, उसका ख़ास कर्तव्य है। यह कार्य्य समाज या देश की संस्कृति का परिचायक है, और इससे शिल्पियों को प्रोत्साहन मिलता है तथा शिल्प की उन्नति होती है।

पुरातत्व से भी मुझे प्रेम था और ऐतिहासिक स्थलों पर खुदाई करने की ओर मैं यथावकाश ध्यान दिया करता था। मेरा उद्देश्य था, प्राचीन ग्रीक या यूनानी कला की जड़ तक

पहुँचना, और इस बात का पता लगाना कि पूरब की संस्कृति का पश्चिम पर क्या प्रभाव पड़ा था। जब मुझे जर्मन प्राच्य-समिति का सभापतित्व प्रदान किया गया तब मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस समिति के कार्य्य को मैं बहुत महत्वपूर्ण समझता था और इसकी सफलता के लिये मैं बराबर प्रयत्नशील रहता था। इसकी ओर से होने वाली खुदाई के काम पर जब कभी कोई व्याख्यान होता तो मैं उसे सुनने के लिये ज़रूर पहुँचता। और जब कभी विदेश में इसे विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता तब मैं लिखा-पढ़ी करके उन्हें दूर करा देता।

कोरफू नामक स्थान में मेरी प्रेरणा से जो खुदाई हुई उससे कितनी ही महत्वपूर्ण बातों का पता लगा। इस कार्य्य में मुझे अध्यापक डोरफेल्ड से विशेष सहायता प्राप्त हुई। प्राचीन ग्रीक सभ्यता के संबन्ध में उनका ज्ञान अगाध था। उनकी खुदाई ने पुरातत्वप्रेमियों की आँखें खोल दीं, वास्तव में मैं उनके कार्य्य को, एशिया और यूरोप के बीच के पुल का, एक ज़बर्दस्त पाया समझता हूँ। १९१४ में हीडलवर्ग के अध्यापक ड्यून कोरफू गये और बड़ी छानबीन के बाद उन्होंने भी डोरफेल्ड के और मेरे मत का समर्थन किया। इस संबन्ध में कई समस्याएँ विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हो गयी थीं और मैं समिति के सामने उन पर १९१४-१५ में व्याख्यान दिलाने की तैयारी कर रहा था। १९१४ के वसन्त-काल में मेरे हाथ में कोई ख़ास काम था तो यही—पर मेरे शत्रुओं का कहना है कि मैं लूट-खसोट करने, दूसरे देशों को हड़पने की फ़िक्र में था, और महायुद्ध के लिये तैयारियाँ कर रहा था। सच तो यह है कि जिस समय मैं

पुरातत्त्व-संबन्धी प्रश्नों को हल करने-कराने में लगा हुआ था, जिस समय मेरे समय का वहुत बड़ा हिस्सा होमर के महाकाव्य के अध्ययन और ऐतिहासिक खोज या खुदाई के काम में लग रहा था—ठीक उसी समय रूस मेरे देश पर आक्रमण का आयोजन कर रहा था। वर्ष के आरंभ में किसी ने ज़ार से पूछा था कि आप का प्रोग्राम क्या है? ज़ार ने उत्तर दिया था कि इस साल मैं घर पर ही रहूँगा, क्योंकि लड़ाई छिड़नेवाली है।

चौथा अध्याय

जर्मन सेना

अपनी सेना के साथ मेरा क्या संबन्ध था यह सभी जानते हैं। इस विषय में मैं अपनी वंशपरम्परा की रक्षा करता रहा। अशिया के राजाओं ने कभी अन्तर्राष्ट्रीयता की मरीचिका के पीछे अपने को दौड़ने न दिया—वे सदा इस विचार पर दृढ़ रहे कि देश की भलाई इसीमें है कि अपने व्यापार और उद्योग-धंधों की रक्षा के लिये उसकी भुजाओं में यथेष्ट बल हो। मैं बार बार अपने भाषणों में इस बात पर ज़ोर देता था कि जर्मनी को चाहिए कि अपनी बारूद सूखी, और अपनी तलवार तेज़ रखे। मेरा उद्देश यह था कि हमारे देशवासियों के साथ हमारे शत्रु भी सावधान हो जायँ और हमसे लोहा लेने से पहले सोच-समझ लें। जर्मन जाति को मैं वीर बनाना चाहता था। मेरी लालसा यही थी कि जब दुश्मनों की झपट से अपना सर्वस्व बचाने का समय आ पड़े तब हमारे देशवासी कायर और कमज़ोर न पाये जायँ।

मैंने सैनिक शिक्षा को अनिवार्य्य कर दिया। सामाजिक सुधार की दृष्टि से भी यह व्यवस्था बड़ी महत्वपूर्ण है। कुछ काल के लिये सैनिक बनना अनिवार्य्य हो जाने से भिन्न भिन्न श्रेणी के लोग—अमीर और ग़रीब, बड़े और छोटे—एक जगह बराबर होकर मिलते हैं और परस्पर मित्र बन जाते हैं। सबका एक ही

भाव होने के कारण इससे राष्ट्रीय एकता में भी बड़ी सहायता पहुँचती है।

सोचने की बात है कि हमारी इस व्यवस्था ने जर्मन युवकों को क्या से क्या बना दिया! शहर के जो लड़के हमारे पास ज़र्दी लिये आते थे वे हट्टे-कट्टे, मज़बूत बन कर जाते थे। मेहनत-मज़दूरी से जिनके बदन में भारीपन और कड़ाई आ गयी थी उन्हें हम कुछ ही समय में हलका और लचीला बना देते थे।

फ़ौज में मेरा समय बड़े सुख से कटा। मैं अपने साथियों से मिलना-जुलना बहुत पसन्द करता था। उन दिनों के अनुभव कभी भूलने के नहीं!

अपने सैनिकों के बीच में मुझे बराबर यह मालूम देता था कि मैं अपने परिवार से घिरा हूँ। उन पर मेरा अत्यधिक विश्वास था। १९१८ के कटु अनुभव के बाद भी वह विश्वास ज्यों का त्यों बना है। चार बरस के निरन्तर संग्राम के बाद कुछ लोगों की शारीरिक और मानसिक अवस्था इतनी ख़राब हो गयी कि वे घर-बाहर के दुश्मनों के बहकाने में आ गये। जर्मन जाति के रत्न तो १९१८ से पहले ही बलिदान हो चुके थे—जो लोग बच रहे थे उनमें वैसी दृढ़ता न थी, और क्रान्ति की लहर से उनके पैर जल्दी उखड़ गये।

अनिवार्य्य सैनिक शिक्षा से जर्मन जाति को जो लाभ पहुँचा उसकी इयत्ता बताना असंभव है। थोड़े में कह सकते हैं कि इसके फलस्वरूप प्रत्येक जर्मन के हाथ-पैर के साथ उसके दिल में भी मज़बूती आ जाती थी। इसने ऐसे वीर तैयार कर दिये जिन्होंने सब प्रकार से अपने देश का मस्तक ऊँचा किया। इसी

साँचे में ढले हुए लोग समय समय पर उच्चपदाधिकारी बनाये गये, और गुणगरिमा में ऐसे निकले कि संसार के और किसी भी देश में उनकी बराबरी करनेवाले न मिल सकते थे। योग्यता और चरित्रबल दोनों में ही वे बे-मिसाल थे।

फ़ौजी अफ़सरों से भी मेरी बड़ी घनिष्टता थी। समय का प्रभाव उन पर कुछ ज़रूर पड़ा था, पर यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि आत्मसंयम, सादगी और सचाई में जर्मन अफ़सरों के उपमान न थे।

फील्ड मार्शल जेनरल मोल्टके की नीति थी ऐसे अफसरों को तैयार करना जिनमें और गुणों के साथ, नैतिक साहस हो, विचार-स्वातंत्र्य हो और दूरदर्शिता हो। जर्मन अफसरों के सामने यह आदर्श रक्खा जाता था कि बाहर तुम्हारी जो योग्यता जान पड़ती हो भीतर उससे अधिक होनी चाहिए। मोल्टके ने जर्मन सेना की नींव डाली, और उनके उत्तराधिकारियों ने उनका पदानुसरण कर उसका विस्तार किया। उन्हींकी चेष्टाओं के फल-स्वरूप जर्मन अफसरों का ऐसा दल तैयार हो सका जिसने लड़ाई के दिनों में दुश्मनों के छक्के छुड़ा दिये और जिसके कर्तबों को देख कर संसार दंग रह गया!

सेना को सुसज्जित करने की दृष्टि से मैंने कितने ही आवश्यक सुधार कराये। भारी तोपों का प्रचार मेरी ही प्रेरणा और प्रयत्न से हुआ। इस सिलसिले में मशीन-गन का भी उल्लेख करना आवश्यक है।

मनुष्य का कोई भी काम क्यों न हो अधूरा ही रहता है। फिर भी इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि कूच का डंका बजने

पर, जर्मनी की जो फौज दुश्मनों की ललकार का जवाब देने चली थी वह संसार में अपनी तरह की एक ही थी।

जिस समय मैं गद्दी पर बैठा उस समय हमारी जलसेना शैशवावस्था में थी। जलसेनाध्यक्ष हालमैन ने बड़ी चेष्टायें कीं, पर जर्मन पार्लमेंट ने उनकी बातों पर ध्यान न दिया और सरकार की ओर से अपनी नौ-शक्ति बढ़ाने की कोई व्यवस्था न की गयी। हालमैन ने मुझ से कहा कि मेरा इस्तीफ़ा मंजूर किया जाय। इस देशभक्त और स्वामिभक्त वीर के प्रति मेरे हृदय में बड़ी श्रद्धा थी। हम दोनों आपस में प्रायः मिलते रहते थे। मैं उन्हें सच्चा दोस्त समझता था। स्वार्थपरता उन्हें छू तक न गयी थी। कभी अपने लिये कुछ न माँगा। भाग्य उस देश का, जहाँ ऐसे नागरिक जन्म लें! मैं उनकी पवित्र स्मृति में आज भी कृतज्ञता-कुसुमांजलि समर्पण करता हूँ!

हालमैन का स्थान टिरपिज़ ने ग्रहण किया। वह इस विषय में मुझ से पूर्णतः सहमत थे कि जंगी जहाजों के लिये अगर जर्मन पार्लमेंट की मंजूरी लेनी है तो पुराने तरीकों से काम न चलेगा। पार्लमेंट में विरोधी दल उनकी आवश्यकता ही स्वीकार न करता था। ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर उसकी ओर से जो आलोचना की जाती उससे यही जान पड़ता कि विरोधी इसे बच्चों का खेल समझ रहे हैं। जर्मनी के लिये यह जीवन-मरण का प्रश्न था, और उनके लिये अपनी वाग्मिता दिखाने या सरकार पर व्यंग्य-बाण छोड़ने का एक अवसर।

आवश्यक यह था कि पार्लमेंट में और उसके बाहर लोग इस प्रश्न के महत्व को अच्छी तरह समझ जायँ और समझ-

बूझकर सरकार का इस मामले में साथ दें। पार्लमेंट के मेंबर भी जलसेना की आवश्यकता से बहुत कुछ अनभिज्ञ थे। उनको और सर्वसाधारण को यह बताना ज़रूरी था कि क्यों अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये जर्मनी के पास सुसंगठित और सुसज्जित जलसेना होनी चाहिए। यह काम प्रचार-आन्दोलन के जरिये हो सकता था, और उसके लिये समाचारपत्रों का तथा प्रतिष्ठित शिक्षकों का सहयोग आवश्यक था। पर हम लोगों ने देखा कि जलसेना के लिये जो व्यवस्था हो वह स्थायी होनी चाहिए। बार बार पार्लमेंट के पास आना और छोटी से छोटी बात के लिये उसकी मंजूरी माँगना—इससे उद्देश की पूर्ति नहीं हो सकती। बारह बरस यों ही नष्ट हो गये, अब अगर सचमुच कुछ करना है तो ऐसा प्रबंध होना चाहिए कि हमारी जलसेना का भविष्य, पार्लमेंट की दलबन्दी पर निर्भर न हो—बल्कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतंत्र-रूप से होती रहे। इसके लिये ख़ास कानून बनाने की ज़रूरत थी और सरकार की ओर से उसकी तैयारियाँ होने लगीं।

टिरपिज़ इस काम में जी-जान से लग गये। अपने स्वास्थ्य के नष्ट होने की परवा न करके वह रात-दिन परिश्रम करने लगे। जब क़ानून का मसविदा तैयार हो गया तब वह मेरे आदेश से, प्रिन्स बिस्मार्क को उसकी आवश्यकता समझाने गये।

समाचारपत्रों में इस बिल के पक्ष में लेख पर लेख निकलने लगे। अर्थ-शास्त्र के विद्वान्, व्यापार तथा राजनीति का मर्म जानने वाले, सभी बड़े उत्साह से सरकारी प्रस्ताव का समर्थन करने लगे। सारे देश में यह लहर फैल गयी कि जर्मनी के लिये

जलसेना अत्यन्त आवश्यक है और अगर यह क़ानून पास न हुआ तो उसकी जड़ मज़बूत न हो सकेगी।

इसी बीच में अंगरेज़ों ने भी मदद पहुँचा दी, यद्यपि जान-बूझ कर नहीं। बोअर युद्ध छिड़ चुका था, इँगलैंड ने दक्षिण अफ्रीका के उस छोटे से मुल्क की आज़ादी पर धावा बोल दिया था। जर्मनी में बोअरों से इस सङ्कट काल में यों ही सहानुभूति थी। इसी समय समाचार मिला कि पूरब अफ्रीका के तट पर इँगलैंड के जंगी जहाज़ों ने न्याय को तिलांजलि देकर दो जर्मन स्टीमर पकड़ लिये हैं।

जिस समय दूसरे स्टीमर के पकड़े जाने का समाचार आया उस समय मैं ब्यूलो और टिरपिज़ से बातें कर रहा था। ब्यूलो ने तार पढ़ सुनाया। मैंने कहा कि जिस बात से किसी का कोई मतलब न निकले वह बेहूदापन है। इस पर टिरपिज़ बोल उठे कि "ऐसा न कहिए। इससे अपना मतलब निकलता है—सरकारी बिल अब ज़रूर पास हो जायगा। श्रीमान् को चाहिये कि जिस अंगरेज़ कप्तान ने हमारे स्टीमर रोक रक्खे हैं उसे एक स्वर्णपदक प्रदान करें।"

चैन्सलर ने उसी दम शराब मँगायी और हम तीनों ने इस बात की खुशी में प्याले भर कर पिये। सचमुच ब्रिटिश बेड़े ने हमारी बहुत बड़ी सहायता की थी।

पाँचवाँ अध्याय

महासमर और षड्यन्त्र

जिस समय आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या हुई, मैं कील में था। समाचार मिलते ही मैं बर्लिन जा पहुँचा और आस्ट्रिया की राजधानी वीयना जाने की तैयारी करने लगा। मुझ से कहा गया कि आप वहाँ इस समय न जायँ। मुझे पीछे मालूम हुआ कि लोगों को आशंका थी कि शायद मेरी जान पर हमला हो।

चित्त बड़ा उद्विग्न हो रहा था। नारवे जाने का प्रोग्राम पक्का हो चुका था, पर मैंने निश्चय किया कि कहीं बाहर न जाकर घर पर ही रहना ठीक है। सरकार इससे सहमत न थी। चैन्सलर की और पर-राष्ट्र-विभाग की राय हुई कि इस अवसर पर मेरा प्रोग्राम के अनुसार, बाहर जाना ही ठीक है—इसका यूरोप पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और इससे शान्ति-रक्षा में सहायता पहुँचेगी। मैं बड़ी देर तक बहस करता रहा और उन्हें समझाता रहा कि परिस्थिति भयङ्कर हो रही है; मालूम नहीं कब क्या हो जाय, मैं अपने देश से दूर जाना ठीक नहीं समझता। पर चैन्सलर बेथमैन ने कहा कि "नारवे-यात्रा का समाचार तमाम भेजा जा चुका है, अब अगर संसार को यह मालूम हो कि आप नहीं जा रहे हैं तो परिस्थिति जितनी भयङ्कर है उससे कहीं ज्यादा दीखने लगेगी—और बहुत संभव है युद्ध छिड़ जायगा। फिर इसका दोष आप ही के सिर मढ़ा जायगा। इस समय बड़ी आवश्यकता

इस बात की है कि संसार की घबराहट दूर की जाय, और इसका एक उपाय यह है कि आप चुपचाप अपना प्रोग्राम पूरा करने चल दें।"

मैंने और भी अफसरों की सलाह ली और जब देखा कि समर-विभाग के उच्चपदाधिकारी भी शान्त और बेफ़िक्र हैं तब मैंने कहा कि चलो, नारवे चलें। पर मैं चिन्तानल से जल रहा था।

प्रस्थान करने से पहले मैंने, अपने नियमानुसार, कुछ मन्त्रियों को बुला कर उनसे थोड़ी देर तक बातें कीं। पर महासमर की या उसके लिये तैयारी करने की चर्चा भी न हुई। दुश्मनों ने यह बात उड़ाई कि ५ जुलाई को मैंने खास इसी विषय पर विचार करने के लिये अपने मन्त्रियों को एकत्र किया था, पर इसमें सत्य का लेश भी न था।

मैं अपने जहाज़ी बेड़े के साथ नारवे के पास के समुद्र में छुट्टी मनाने गया। मुझे वहाँ अपने पर-राष्ट्र-विभाग से कभी कभी कुछ समाचार मिल जाता था। पर वह काफी न था। नारवे के समाचारपत्रों को देखने से मुझे मालूम पड़ता था कि परिस्थिति दिन दिन ख़राब होती जा रही है। मैंने चैन्सलर और पर-राष्ट्र-सचिव को तार पर तार दिये कि मैं जल्दी लौटना चाहता हूँ, पर मुझे बार बार यही उत्तर मिला कि इसकी कोई जरूरत नहीं, आप अपना प्रोग्राम पूरा कर लौटिये।

ब्रिटिश बेड़े का स्पिटहेड में जमावड़ा हुआ था। पर उसका निरीक्षण हो जाने पर भी वह वहीं डटा रहा। साधारण अवस्था में निरीक्षण के बाद जहाज़ अपसी अपनी जगह चले जाते हैं, पर इस

आस्ट्रिया के राजकुमार

(इन्हीं की हत्या ने यूरोप के बारूदख़ाने में चिनगारी डाल दी और महासमराग्नि प्रज्ज्वलित कर दी।)

अवसर पर ऐसा न हुआ। मुझे यह बात खटकी और मैंने फिर तार दिया कि मैं अपना लौटना निहायत ज़रूरी समझता हूँ। पर बर्लिनवालों ने फिर उसी बँधी गतमें जवाब दिया कि नहीं, इसकी कोई ज़रूरत नहीं!

पर जब मैंने नारवे के पत्रों में पढ़ा कि आस्ट्रिया ने सर्विया को 'अल्टीमेटम' भेज दिया—अभी तक मुझे बर्लिन से कोई समाचार न मिला था!—तब मैंने एक क्षण भी अधिक बिताना मुनासिब न समझा और बिना किसी से कुछ पूछे लौट पड़ा!

इसी समय मुझे मालूम हुआ कि कुछ ब्रिटिश जहाज़ नारवे की ओर मुझे गिरफ्तार करने के लिये, चुपचाप चल पड़े थे। अभी तक युद्ध न छिड़ा था, पर इँगलैंड की नेकनीयती का यह एक सबूत था!

बर्लिन पहुँच कर मैंने देखा कि मंत्रियों में मतभेद हो रहा है। चैन्सलर और परराष्ट्र-सचिव का ख़याल था कि अगर मैंने युद्ध की तैयारी का हुक्म न दिया तो शान्ति बनी रहेगी, लड़ाई की नौबत न पहुँचेगी। सेनापति माल्टक्के का मत और था। वह कहते थे कि युद्ध अब किसी के रोके रुक नहीं सकता, आत्म-हत्या न करना हो तो तैयार हो जाओ।

हमारे चैन्सलर और परराष्ट्र-सचिव की आँखें तब खुलीं जब उन्हें बताया गया कि रूस ने बहुत कुछ तैयारी कर ली और प्रतिपल करता जा रहा है। सरहद पर उसने रेल की लाइनों को उखाड़ के फेंक दिया था और जगह जगह लाल नोटिस चिपका दिये थे कि लड़ाई के लिये सब तैयार हो जाओ! अब हमारे

धुरन्धर राजनीतिज्ञों की समझ में आया कि वे गलत राह पर थे और चुपचाप बैठने से काम न चलेगा।

असलियत यह है कि १९१४ के युद्ध के लिये तैयारी करना तो अलग रहा, हम लोगों ने उसकी आशंका भी न की थी। ज़ार ने कई महीने पहले कहा था कि इस साल मैं घर पर ही रहूँगा, क्योंकि युद्ध छिड़ने वाला है। इन्हीं ज़ार महोदय ने दो अवसरों पर शपथपूर्वक यह कहा था कि योरप में समराग्नि धधक भी पड़ी तो मैं जर्मन सम्राट् के विरुद्ध कभी अस्त्र ग्रहण न करूँगा। उन्होंने आप ही आप मुझे यह आश्वासन दिया था। रूस और जापान के युद्ध में जर्मनी ने जो नीति ग्रहण की थी, उसके लिये ज़ार महोदय जर्मन सम्राट् के कृतज्ञ थे। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि इँगलैण्ड ने कूटनीति द्वारा जापान को रूस के विरुद्ध उभाड़ा था। इसलिये वह इंगलैण्ड को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

जिस समय ज़ार युद्ध की भविष्यद्वाणी कर रहे थे उस समय मैं कारफू नामक स्थान में, पुरातत्त्व के अन्वेषण के लिये, खुदाई का काम करा रहा था। कारफू से मैं वाइज़्रवैडन और फिर नारवे चला गया। युद्ध के लिये तैयारी करने का तरीका यह नहीं है। मैं महीनों देश से बाहर रहा और सेनापति को भी छुट्टी दे दी। मुझे क्या मालूम था कि मेरे दुश्मन चुपचाप अग्निकाण्ड के लिये सामग्री जुटा रहे हैं, मेरे विरुद्ध ऐसा भीषण षड्यंत्र रच रहे हैं।

हमारे मन्त्रिमण्डल की आँखों पर पट्टी बँधी थी, इसलिये उसे कुछ भी मालूम न हो सका। हमारे पर-राष्ट्र-विभाग ने अपना

सिद्धान्त सा बना लिया था कि कुछ भी हो शान्ति भंग नहीं होनी चाहिए। युद्ध की संभावना को उसने अपने विचार के दायरे से बाहर कर दिया था। इस विषय में कोई कुछ कहता तो उसकी बात चंडूखाने की गप समझी जाती। युद्ध की तैयारियों के प्रमाण पर प्रमाण मिलने पर भी उसने उन पर कुछ ध्यान न दिया।

सेना-विभाग ने अपने कर्तव्यानुसार बार बार चेतावनी दी कि आफत आ रही है, अपनी रक्षा के लिये तैयार हो जाना चाहिए। पर राजनीतिज्ञ होने का दम भरने वालों ने उस पर कुछ भी विश्वास न किया।

१९१४ के वसन्तकाल और ग्रीष्मकाल में—जिस समय जर्मनी में कोई महासमर का स्वप्न भी न देख सका था—रूस, फ्रांस, बेल्जियम और इँगलैंड इसके लिये पूरी तैयारी कर चुके थे। मैंने इस संबन्ध में कुछ प्रमाणों का संग्रह किया था। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं:—

(१) इँगलैंड की बैंकों ने अप्रैल १९१४ में ही सोना जमा करना शुरू कर दिया था। पर जर्मनी जुलाई तक सोना बाहर भेज रहा था। और तो क्या अपने दुश्मनों के पास भी उसने अपना सोना और गल्ला बराबर जाने दिया।

(२) अप्रैल १९१४ में टोकियोनिवासी आम तौर से यह चर्चा करने लग गये थे कि जर्मनी और मित्रशक्तियों के बीच संग्राम छिड़ने ही वाला है। जर्मन जलसेना के प्रतिनिधि ने अपनी रिपोर्ट में यह बात लिख भेजी थी।

(३) मार्च १९१४ के अन्त में रूस के सैनिक महाविद्यालय के अध्यक्ष ने अपने एक भाषण में कहा था कि आस्ट्रिया की नीति के

कारण महासमर अवश्यम्भावि हो गया है, और पूरी संभावना है कि ग्रीष्मकाल बीतते बीतते खून की नदी बह चलेगी। उनके भाषण में इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि रूस को अपने शत्रुओं पर आक्रमण करने में ज़रा भी विलम्ब न करना चाहिए।

(४) बर्लिन-स्थित बेल्जियन राजदूत की रिपोर्ट में एक मार्के की बात थी। लिखा था कि अप्रेल १९१४ में कुछ जापानी फ़ौजी अफसर सेंट पिटर्सवर्ग से लौटती बार यहाँ आये थे। उनकी जबानी मालूम हुआ कि वहाँ फौज में यह अफवाह गरम थी कि जर्मनी और आस्ट्रिया हंगरी के विरुद्ध युद्ध छिड़ने ही वाला है और रूस इसके लिये पूरी तरह तय्यार है। बल्कि रूसी अफ़सरों का खयाल है कि हम लोगों के और हमारे दोस्त फ्रांस के लिये मैदानेजंग में उतर पड़ने का यही सबसे अच्छा मौका है।

(५) सेन्ट पिटर्सबर्ग में उस समय जो फ्रेंच राजदूत था उसने १९२१ में अपनी जीवनस्मृति प्रकाशित की थी। उसमें लिखा है कि २२ जुलाई १९१४ को मान्टनेग्रो की राजकुमारियों ने मुझसे कहा कि हमारे पिता का एक तार आया था जिसमें सांकेतिक शब्दों में यह समाचार था कि १३ अगस्त से पहले युद्ध छिड़ जायगा.....आस्ट्रिया का नामनिशान भी न रहेगा .....आल्सेस लारेन तुम्हें वापस मिल जायगा........हमारी सेनाओं का बर्लिन में सम्मेलन होगा...... जर्मनी नष्ट हो जायगा।

(६) सर्विया की ओर से बर्लिन में Charge d'Affaires का काम करनेवाले बोगिशेविक (Bogitshevich) ने १९१९ में "महासमर के कारण" नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमें लिखा है कि २६ या २७ जुलाई १९१४ को उसकी, फ्रेंच राजदूत

कैम्बों से बातचीत हुई। कैम्बों ने कहा कि "अगर जर्मनी चाहता है कि युद्ध छिड़े तो उसे इंगलैण्ड को भी अपने शत्रुओं में गिनना होगा। ब्रिटिश जहाज़ी बेड़ा हैम्बर्ग ले लेगा। हम लोग जर्मनी को परास्त कर देंगे।" बोगिशेविक (Bogitshevich) ने लिखा है कि इस बातचीत से मुझे निश्चय हो गया कि जिस समय पोआंकारे सेन्ट पिटर्सबर्ग में, ज़ार से मिले थे उस समय इस महायुद्ध का निश्चय हो चुका था।

(७) मुझे विश्वस्तसूत्र से रूस के एक उच्चपदाधिकारी की ज़बानी मालूम हुआ कि फरवरी १९१४ में रूस की क्राउन कौंसिल की एक गुप्त बैठक हुई थी, जिसके सभापति स्वयं ज़ार थे। उसमें परराष्ट्र-सचिव ने ज़ार को सलाह दी कि कुंस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लिया जाय—क्योंकि रूस की इस काररवाई का जर्मनी और आस्ट्रिया विरोध किये बिना न रहेंगे और इस प्रकार संग्राम अनिवार्य हो जायगा। रूसी परराष्ट्र-सचिव ने यह भी कहा कि इटली जर्मनी का साथ न देगा। उसका विश्वास था कि रूस फ्रान्स का पूरा भरोसा कर सकता है और सम्भवतः इंगलैंड भी उसी की ओर रहेगा।

ज़ार ने इस प्रस्ताव से सहमत होकर इसे कार्य्य में परिणत करने के लिये प्रस्तुत होने का फरमान निकाल दिया था। उनके अर्थसचिव ने उन्हें बहुत समझाया बुझाया कि रूस की भलाई जर्मनी को मित्र बनाये रखने में है, इसलिये आप ऐसी नीति ग्रहण न करें। मुझे यह बात बहुत दिन बाद मालूम हुई पर ज़ार को उसकी सलाह अच्छी न लगी, वह जिस ओर पैर उठा चुके थे उधर बढ़ते ही गये।

(८) इन्हीं सज्जन ने मुझे यह भी बताया कि युद्ध छिड़ने के दो दिन बाद रूस के परराष्ट्र-सचिव ने उन्हें नाश्ता करने के लिये बुलाया था। इन्होंने देखा कि उसकी खुशी का ठिकाना नहीं है। हाथ मिलाते हुए उसने कहा कि यह बात आपको माननी होगी कि मैंने लड़ाई के लिये सब से अच्छा मौका चुना है। इस पर उक्त सज्जन ने कुछ चिन्तित होकर पूछा कि इंगलैंड का रुख किधर होगा? परराष्ट्र-सचिव ने जेब को हाथ लगाकर हँसते हुए कहा—"मेरी जेब के अन्दर एक ऐसी चीज़ है जो दो ही एक दिन में रूस को प्रफुल्लित और संसार को आश्चर्यचकित कर देगी। मेरे पास इङ्गलैंड का प्रतिज्ञापत्र पहुँच गया है कि अगले युद्ध में हम जर्मनी के विरुद्ध रूस का साथ देंगे।"

(९) पूरब एशिया में कुछ ऐसे रूसी सैनिक क़ैदी हुए थे जो साइबीरिया की फौज के थे। उनका कहना था कि "हम लोग १९१३ में रेल द्वारा मास्को के आसपास पहुँचाये गये थे। ज़ार उस समय नकली लड़ाई अर्थात् Manoeuvres करनेवाले थे और हम लोगों को उसमें शरीक होना था, पर Manoeuvres न हो सके। फिर भी हम लोगों को साइबीरिया लौटने का हुक्म न मिला। १९१४ के ग्रीष्म काल में हम लोग विलना लाये गये। कहा गया था कि ज़ार वहाँ बहुत बड़े पैमाने पर Manoeuvres करनेवाले हैं। पर वहाँ हम लोगों को गोली-बारूद दी गयी और यह बताया गया कि जर्मनी से लड़ाई छिड़ चुकी है। हम लोगों को कुछ मालूम न हो सका कि क्यों या किस लिये—पर लाये गए थे नकली लड़ाई में भाग लेने के लिये और भाग लेना पड़ा असली लड़ाई में।"

(१०) एक अमेरिकन यात्री ने १९१४ के वसन्तकाल में काकेसस-प्रान्त में भ्रमण किया था। उसका भ्रमण-वृत्तान्त १९१४–१५ में प्रकाशित हुआ था। उसमें एक जगह लिखा है कि "मई के आरम्भ में जब मैं काकेसस पहुँचा तब तिफलिस जाते हुए मैंने देखा कि पलटन की पलटन पूरी वर्दी में 'मार्च' कर रही है। मुझे शक हुआ कि इस प्रान्त में विद्रोह है। उसीको दवाने के लिये फौज बुलायी गयी है। पर तिफलिस में पूछताछ करने पर अधिकारियों ने कहा कि काकेसस में सर्वत्र शान्ति विराजमान है, आप जहाँ चाहें वेखौफ घूम सकते हैं, आपने जो कुछ देखा है वह सिर्फ 'मार्च' करने की 'प्रैक्टिस' है।"

वह यात्री आगे लिखता है कि "मई के अन्त में मैंने, काकेसस के एक बन्दरगाह में जहाज पर सवार होना चाहा तो देखा कि किसी जहाज पर जगह नहीं है—सब पर फ़ौजी सिपाही और अफसर सवार हैं! बड़ी मुश्किल से मैंने अपने और अपनी स्त्री के लिये एक केबिन का प्रबन्ध किया। रूसी अफसरों से बातचीत होने पर मालूम हुआ कि वे आडेसा बन्दरगाह में उतरने वाले थे। वहाँ से इन्हें किसी बड़े Manoeuvres में शरीक होने के लिये कहीं जाना था।"

(११) कज्जाक नरेश प्रिन्स टुन्डुटफ १९१८ में जर्मनी से सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश से बोसमन्ट पहुँचे। बात यह थी कि कज्जाक बोल्शेविकों के जानी दुश्मन थे और प्रिन्स आत्मरक्षा के लिये जर्मनी से सहायता चाहते थे। उन्होंने बताया कि जिस समय ज़ार और उनके सेनापति के बीच, लड़ाई शुरू होने से पहले, टेलीफ़ोन द्वारा बातें हुई थीं उस समय वह वहाँ मौजूद थे।

मैंने ज़ार के नाम जो तार भेजा था उसका उन पर अच्छा असर पड़ा और उन्होंने निश्चय कर लिया कि सेना का संचालन रोक दिया जाय। पर उनके सेनापति ने उनकी आज्ञा का पालन न किया। उसने परराष्ट्र-सचिव से पूछा कि क्या करना चाहिए। सारी रचना तो इन्हीं हजरत की थी, सो यह कब कह सकते थे कि रूस चुपचाप बैठ रहे। इन्होंने सेनापति को उत्तर दिया कि ज़ार का नया हुक्म बेहूदगी का नमूना है, उसे मानने की ज़रूरत नहीं, मैं उन्हें कल समझा बुझाकर राह पर ले आऊँगा। इस पर सेनापति ने ज़ार को ख़बर दी कि "सेना-संचालन हो चुका—कूच का डंका बज चुका—अब दूसरी बात नहीं हो सकती"।

प्रिन्स टुन्डुटफ ने कहा कि "यह सफेद झूठ था। मैंने अपनी आँखों देखा था, कि सेनासंचालन का आज्ञापत्र सेनापति की मेज पर पड़ा हुआ था—इससे साफ जाहिर होता था कि अभी उसका पालन नहीं हुआ है"।

मनोविज्ञान का अध्ययन करने वालों के लिये यह घटना विशेष मनोरंजक है। ज़ार स्वयं महासमर के जन्मदाताओं में थे और उसमें भाग लेने के विचार से सेना-संचालन का आदेश कर चुके थे। पर मैंने जब तार द्वारा उन्हें चेतावनी दी तब उनकी आँखें खुलीं और मालूम हुआ कि वह कैसे भीषण काण्ड की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले रहे हैं। आखिरी वक्त उन्होंने चाहा कि रूस के माथे यह कलंक न लगे, खूनखराबी के दोष से वह बच जाय, पर अपने परराष्ट्र-सचिव के आगे उनकी एक न चली और उनके हाथ, लाखों मनुष्यों के खून से, लाल हो ही गये।

कज्ज़ाक नरेश ने यह भी बताया कि रूस के फ़ौजी अफ़सर जर्मनी से बेतरह जलते थे। उनमें यह भाव फ्रांसीसी फ़ौज से आया था। १९०८–९ में ही रूस लड़ाई शुरू कर देना चाहता था, पर उस समय फ्रांस तैयार न था। १९१४ में रूस तैयार न था। उसके सेनापति की इच्छा थी कि लड़ाई १९१७ में हो। पर उसके परराष्ट्र-सचिव और फ्रांस इसके विरोधी थे। परराष्ट्र-सचिव को रूस में क्रान्ति हो जाने का डर था, और यह डर भी था कि ज़ार कहीं कैसर के प्रभाव में पड़ कर शान्ति के पक्षपाती न बन जायँ। उधर फ्रान्स को यह विश्वास तो था कि इँगलैंड इस समय हमारी सहायता करेगा पर साथ ही यह आशंका थी कि वह पीछे जर्मनी से किसी प्रकार का समझौता कर लेगा और फ्रान्स को उसका सहारा न रह जायगा।

(१२) १९१४ में जब हमारी फौज उत्तर फ्रान्स में और बेल्जियम की सरहद पर पहुँची तब उसने वहाँ ढेर के ढेर ब्रिटिश फौज के सिपाहियों के ओवर-कोट पाये। वहाँ के निवासियों से पूछने पर पता चला कि ये कोट वहाँ पिछले सालों में स्टाक किये गये थे। १९१४ में जो अंगरेज सिपाही कैद हुए उनमें बहुतों के पास ओवर-कोट न थे। पूछने पर उन्होंने जवाब दिया कि हम लोगों के लिये ओवर-कोट तो उत्तर फ्रान्स और बेल्जियम में रक्खे थे, फिर साथ लाने की क्या जरूरत थी ?

और देखिए। एक स्थान पर हमारे सिपाहियों को उत्तर फ्रान्स और बेल्जियम के कुछ ऐसे नक्शे मिले जो इंगलैंड में तैयार हुए थे। स्थानों के नाम फ्रेञ्च और अँगरेज़ी में दिये गये थे, और तरह तरह के फ्रेंच शब्दों के अँगरेज़ी अनुवाद भी मौजूद

थे। ये नक्शे साउथ हैम्टन के बने हुए थे और याद रखने की बात है कि १९१२ में ही ये तैयार हो चुके थे।

फ्रान्स और बेल्जियम की अनुमति के विना इङ्गलैंड की ओर से ऐसे फौजी स्टोर कब खुल सकते थे, पर इस बात का जवाब वही लोग दे सकते हैं कि युद्ध से पहले शान्ति के समय में ऐसी अनुमति किस प्रकार मिल गयी ! अगर हम लोगों ने बेल्जियम में ऐसे स्टोर खोलने की इच्छा प्रकट की होती तो उस "तटस्थ देश" तथा इङ्गलैंड-फ्रान्स में कैसा हो-हल्ला मचता, उनका प्रतिवाद कैसा भयङ्कर रूप धारण करता !

युद्ध की घटनाओं का वर्णन मैं इस पुस्तक में न करूँगा। यह काम मैं अपने अफ़सरों के लिये और इतिहासकारों के लिये छोड़ता हूँ। मेरे पास उनके वर्णन के लिये जरूरी मसाला भी नहीं है।

पर जब मैं युद्धकाल का सिंहावलोकन करता हूँ—यह सोचता हूँ कि चार बरस तक जर्मन जाति के हृदय में किस प्रकार आशा और आशंका का द्वंद्व चलता रहा और फिर भी किस प्रकार उसने अपने खून की नदी बहा कर दुश्मनों के छक्के छुड़ा दिये—तब अपने उन रणधीर देशवासियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति से मेरा हृदय भर आता है और कृतज्ञता से मेरा मस्तक अवनत हो जाता है।

जो जर्मन रणभूमि में न जा सके उन्हें भी कम आत्मत्याग न करना पड़ा। सारे सुखों को उन्हें तिलाँजलि देनी पड़ी, अभाव–वियोग—विपत्ति की आग में तपना पड़ा। पर अपने देश की रक्षा के लिये जो बहादुर लड़ने गये और लड़ते लड़ते मर मिटे

उनकी प्रशंसा के लिये हम उपयुक्त शब्द कहाँ पायें ! जर्मनी के विरुद्ध उस समय एक नहीं, दस नहीं—पूरे अट्ठाईस देश या राष्ट्र लड़ाई के मैदान में उतर पड़े थे। हमारे जर्मन सिपाहियों को इतने देशों की आधुनिक अक्षौहिणी सेनाओं का सामना करना पड़ा और सामना उन्होंने ऐसा किया कि इतिहास के पृष्ठों में अपने आपको अमर कर गये ! जल, स्थल, आकाश—हमारे दुश्मनों ने हमें जहाँ ललकारा हमने वहीं उनका हौसला पूरा कर दिया। प्रत्येक मोर्चे पर हमारे सिपाही लड़े और इस ख़ूबी से लड़े कि जहाँ हमारे पक्ष की हार निश्चित थी वहाँ भी हमारी जीत ही हुई।

पर विश्वासघात ने हमें कहीं का न रहने दिया, जो सोना हमारे हाथ में आ चुका था उसे मिट्टी कर दिया। हमारे भाग्य में शायद यही बदा है कि जर्मन का नाश जर्मन ही करेगा। तभी तो जिस समय हम अपने सीने पर दुश्मनों की गोलियाँ खा रहे थे उसी समय हमारे अपने ही भाई ने चुपचाप पीछे से आकर हमारी पीठ में खंजर घुसेड़ दिया।

युद्ध में जर्मन जाति की 'बर्ब्बरता' के विषय में संसार को हमारे शत्रुओं ने इतनी मनगढ़न्त बातें सुनायीं कि लोग उस समय सत्यासत्य का विवेक न कर सके। उस सम्बन्ध में मैं बस दो शब्द कहने की इजाज़त चाहता हूँ।

ज्योंही हमारी सेना उत्तर फ्रान्स में पहुँची मैंने यह आज्ञा दी कि कलाकौशल-सम्बन्धी वस्तुओं की पूरी रक्षा होनी चाहिए। प्रत्येक पलटन के साथ इस विषय के विशेषज्ञ रख दिये गये और राह में उन्हें जो कुछ देखने को मिला उसका फोटो लेते गये और साथ ही विशद वर्णन करते गये। अगर किसी नगर में ऐसी

वस्तुओं का संग्रह मिलता तो वह सुरक्षित रहने के लिये ख़ास जगह पर पहुँचा दिया जाता और उसकी ऐसी सूची बना कर रख दी जाती जिससे पीछे यह पता चल सके कि कौन सी चीज़ किसकी थी।

कहीं कहीं तो ऐसा हुआ कि दुश्मनों की ओर से गोलाबारी हो रही है और जान जोखिम में होते हुए भी जर्मन सिपाही किसी पुराने गिर्जाघर की खिड़कियों को सुरक्षित रखने के लिये उतार रहे हैं !

पोय की राजकुमारी का पिनों-नामक स्थान में एक मकान है। उसमें अपनी फौज के साथ मैं कुछ दिन ठहरा था। हमसे पहले अंग्रेजी फौज ठहर चुकी थी और सारे स्थान को ऐसी बुरी हालत में छोड़ गयी थी कि बड़ी मुश्किल से हमारे जनरल उसे रहने लायक बना सके। राजकुमारी उस समय स्विट्ज़र-लैंड में थीं। मैं अपने जनरल के साथ उनके कमरे में गया। तब तक उसमें हमारा एक भी सिपाही न जा सका था। हम लोग जाकर देखते हैं कि राजकुमारी के कपड़े-लत्ते ज़मीन पर बिखरे हुए हैं। यह करतूत अंगरेज़ सिपाहियों की थी। ख़ैर, मैंने कहा कि सब को बटोर कर धुला दो और पूरी हिफ़ाजत से अपनी अपनी जगह रखा दो। राजकुमारी के लिखने-पढ़ने के सामान की भी बड़ी दुर्दशा की गयी थी। उनकी प्राइवेट चिट्ठियाँ तक निकाल कर इधर उधर फेंक दी गयी थीं। मैंने कपड़ों की तरह उन्हें भी हिफ़ाजत से रखा दिया।

कुछ समय बाद राजकुमारी के चाँदी के सामान बगीचे में गड़े हुए पाये गये। गाँव वालों से मालूम हुआ कि यह काम

जुलाई के आरंभ में ही किया गया था। इससे यह प्रत्यक्ष है कि राजकुमारी को उसी समय निश्चय हो गया था कि युद्ध छिड़ने वाला है। मैंने फ़ौरन हुक्म दिया कि सारे सामान की लिस्ट बना ली जाय और सामान Aix-la-Chapelle की बैंक के हवाले कर दिये जायँ ताकि युद्ध के बाद राजकुमारी को उनकी सारी सम्पत्ति मिल जाय। मैंने तटस्थ देशों की मारफत राज-कुमारी को स्वीट्जरलैंड में इसकी सूचना भी भेज दी। उनका कोई उत्तर मुझे न मिला। हाँ, फ्रेंच पत्रों में उनकी यह फ़र्य्याद ज़रूर छपी कि जर्मन जनरल ने उनके सारे चाँदी के सामान हड़प लिये थे। इस प्रकार हम लोगों ने अपने प्राण को संकट में डालकर, फ्रेंच लोगों की लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति की रक्षा की—पर पुरस्कार में धन्यवाद मिलना तो दूर रहा सारे संसार में हमारी यह बदनामी की गयी कि जर्म्मन बर्ब्बर हैं, इसलिये प्राचीन से प्राचीन और पवित्र से पवित्र स्थानों को भी विध्वंस कर रहे हैं!

छठाँ अध्याय

आत्म-बलिदान

८ अगस्त १९१८ के कुछ दिन बाद मैंने राजसभा की एक बैठक की। परिस्थिति क्या है, और हमारी नीति इस समय क्या होनी चाहिए, यह मैं स्पष्ट रूप से जानना चाहता था। सैनिक-विभाग की राय थी कि समझौते की बात की जा सकती है, पर पहले Siegfried मोर्चे पर अधिकार जमा कर। उसने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि जब तक जर्मनी इस मोर्चे पर दुश्मनों को पछाड़ नहीं देता तब तक समझौते की बातचीत होनी ही नहीं चाहिए। मैंने चैन्सलर से कहा कि आप हालैंड से दर्य्याफ्त करें कि तटस्थ देश की हैसियत से, वह सन्धि की बातचीत में सहायक हो सकता है या नहीं!

पर बड़ी कठिनता यह थी कि आस्ट्रिया की नीति डाँवाडोल थी। उससे कोई पक्का समझौता न हो सका। हालैंड ने बीच में पड़ना स्वीकार कर लिया, पर आस्ट्रिया ने जर्मनी से पूछे बिना ही—अपनी ओर से सन्धि का प्रस्ताव कर दिया। वहाँ के सम्राट् ने बहुत पहले हमारा साथ छोड़ देने का निश्चय कर लिया था। उन्होंने अपने सरदारों को एक बार अपनी नीति इन शब्दों में बतायी थी कि जब मैं जर्मनों से मिलने जाता हूँ तब वे जो कुछ कहते हैं स्वीकार कर लेता हूँ; पर घर लौटने पर जो कुछ मन में आता है वही करता हूँ।

बार बार हमें आस्ट्रिया से धोखा खाना पड़ा। पर हम लाचार थे। वह यही धमकी देता कि 'अगर तुम्हें हमारी बात मंजूर नहीं है तो हमें भी तुम्हारी ओर रहना मंजूर नहीं है'। अन्त में उसने अलग होकर सुलह की बातचीत शुरू कर ही दी।

आस्ट्रिया के इस विश्वासघात ने हम लोगों के लिये बड़ी विकट स्थिति उत्पन्न कर दी। तीन सप्ताह और अगर वह ठहर जाता तो बहुत सी बातों का रूप और हीं होता। पर आस्ट्रिया के सम्राट् चार्ल्स को विश्वास दिलाया गया था कि अगर आपने जर्मनी का साथ छोड़ दिया तो दुश्मन आप पर रहम करेंगे—और इस प्रकार वह उनके जाल में फँस गये।

८ अगस्त की असफलता के बाद जनरल लुडेन्डर्फ ने कह दिया कि हम जीत की गारन्टी नहीं दे सकते। इस लिये सन्धि की बातचीत करना और भी आवश्यक हो गया। इस बीच में क्रान्तिकारियों ने समस्या और भी जटिल कर दी। लुडेन्डर्फ ने कहा कि सन्धि की बातचीत पीछे होती रहेगी, अभी तो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे लड़ाई थोड़े समय के लिये भी किसी प्रकार रुक जाय।

ठीक इसी समय जर्मनी में मंत्रिमंडल के विरुद्ध एक जबर्दस्त आन्दोलन शुरू हो गया। इसके कुछ खास कारण थे। उस मंत्रिमंडल ने सात सप्ताह में—अर्थात् ८ अगस्त और सितंबर के अन्त के बीच—सन्धि करने-कराने में कुछ भी सफलता प्राप्त न की थी। इस लिये मुझे इस आन्दोलन के नेताओं की बात सुननी पड़ी।

ठीक इसी समय मैंने जनरल गालविट्ज़ और जनरल मुड्रा

को लड़ाई के मैदान से अपने पास बुलाया और सारी हकीकत पूछी। उन्होंने जो कुछ कहा उससे मालूम हुआ कि फौज की हालत ठीक नहीं है। कितने ही काम करने से जी चुराते थे; अफ़सरों की आज्ञाओं का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी; जिन ट्रेनों में घर गये हुए सिपाही छुट्टी पूरी हो जाने पर लौटते थे उन पर अक्सर लाल झंडे फहराते रहते थे। इन अफ़सरों का कहना था कि साधारण जनता में यह भाव फैल रहा है कि चाहे जैसे हो शान्ति हो जानी चाहिए—लोग लड़ने के विरुद्ध होते जा रहे हैं—और यही ख़ास कारण है कि फौज में ऐसी बातें देखने में आ रही हैं। इनकी राय थी कि फ़ौज को जल्दी से जल्दी ऐन्टवर्प-म्यूज़ लाइन के पीछे हटा लेना चाहिए।

उसी दिन मैंने टेलीफोन द्वारा फील्ड मार्शल हिन्डनबर्ग को आज्ञा दी कि सारी सेना उस लाइन के पीछे हटा ली जाय। हमारी सेना थकावट से चूर ज़रूर हो रही थी, पर उसने हार नहीं खायी थी। इस लाइन के पीछे आ जाने से यह फायदा था कि हमारे लिये लड़ाई के मैदान का विस्तार कम हो जाता था। पहले भी हम कई बार अपना लाभ देखकर पीछे हट चुके थे। इस बार भी एक मोर्चा छोड़ कर दूसरे पर जा डटने का अर्थ यह न था कि हम पराजित हो चुके थे, बल्कि यह कि उस परिस्थिति में सफलता की दृष्टि से, हमारे लिये पहला स्थान छोड़ देना ही आवश्यक था।

हाँ, इतना मैं ज़रूर कहूँगा कि हमारी तत्कालीन सेना पुरानी सेना की बराबरी करनेवाली न थी। ख़ास कर नये रंगरूटों पर जर्मनी को तहस नहस करने वाले, क्रान्तिकारी

आन्दोलन का रंग चढ़ रहा था। अक्सर यह शिकायत होती कि ये लोग रात को अपनी ड्यूटी छोड़ कर पीछे घसक देते। फिर भी अधिकांश पलटनों के सिपाही परीक्षा के समय खरा सोना उतरे। शत्रुओं के पक्ष में इतनी बातें थीं—संख्या में अधिक, साधन में बढ़े चढ़े—पर वीरता में हमारे सैनिकों की बराबरी उनसे कभी न बन पड़ी। जब जब मुकाबला हुआ तब तब उन्हें नीचा देखना पड़ा। महासमर में भाग लेने वाले जर्मन सैनिकों की समितियों ने अपने झंडों पर अपना यह 'मोटो' लगा रक्खा है कि:—'कहीं भी हार का नाम न जाननेवाले'! कौन कह सकता है कि इसमें एक भी शब्द अत्युक्ति का उदाहरण है?

वास्तव में, जर्मन सेना ने जो कुछ कर दिखाया उसकी भर-पूर प्रशंसा के लिये किसी कोष में शब्द नहीं मिल सकते। १९१४ में हमारे नौजवान सिपाहियों ने यह न सोचा कि पहले तोपें अपना काम कर लें फिर हम धावा बोलें, बल्कि केवल अपनी भुजाओं का विश्वास कर हँसते हँसते शत्रुओं पर टूट पड़े। उनके साहस और उत्साह की अधिक प्रशंसा होनी चाहिये या उन वीरों के आत्म-त्याग और कर्तव्य-परायणता की, जो बरसों खाइयों में पड़े रहे, जिन्हें प्रायः न तो घर जाने की छुट्टी मिल सकती थी, न भर पेट भोजन, पर फिर भी जिन्होंने अपनी जगह से एक इञ्च इधर-उधर होने का नाम न लिया? दिन रात तोपों से, हवाई जहाजों से और "टैंकों" से गोले बरसते रहते थे और उस दुर्दिन में—विपत्ति-वर्षा की रात में—हमारे सिपाही, शत्रुओं की अपरि-मित शक्ति को तुच्छ समझ कर उनका जवाब देते जाते थे। उनके इस अलौकिक आत्मोत्सर्ग ने जर्मन जाति का मस्तक ऊँचा

रक्खा और सब संकट पड़ने पर भी उसके इतिहास पर ज़रा भी धब्बा लगने न दिया। हमारे दुश्मन हैरान थे कि हम क्योंकर ऐसी दृढ़ता दिखा रहे हैं। चार बरस के निरन्तर युद्ध के बाद जिस सेना के विषय में यह अनुमान किया जा सकता था कि वह अब किसी काम की न रही उसने लड़ाई के मैदान में ऐसे कर्तव्य कर दिखाये कि दुश्मनों के दाँत खट्टे हो गये।

पर जो काम मनुष्य की शक्ति से बाहर था वह आखिर हमारी सेना कैसे कर सकती थी! दम लेने के लिये हमारा पीछे हटना ज़रूरी था।

हमारे फील्ड मार्शल इसके विरोधी थे। उनकी दो दलीलें थीं, एक तो यह कि राजनैतिक दृष्टि से—समझौते की बातचीत में सफलता प्राप्त करने के लिये—यह आवश्यक है कि हम जहाँ हैं वहीं बने रहें। दूसरी यह कि सेना हटाने से पहले लड़ाई के सारे सामान को हटाना ज़रूरी था।

मैंने अब निश्चय किया कि स्वयं चलकर देखूँ कि लड़ाई की क्या हालत है। मेरी सेना ने यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं रणस्थल पर पहुँच जाऊँ। मैं भी चाहता था कि इस अवसर पर मैं अपने सिपाहियों के साथ रहूँ और उनकी अवस्था प्रत्यक्ष कर सकूँ।

मेरे लिये वहाँ जाना इस कारण और भी आसान हो गया कि जब से नयी सरकार का दौरदौरा हुआ था तब से न तो चैन्सलर न 'मंत्रिमण्डल' यह आवश्यक समझता था कि कोई भी बड़ा काम मुझसे पूछ कर किया जाय। मुझे इस समय फ़ुर्सत ही फ़ुर्सत थी।

राष्ट्रपति विल्सन को जर्मनी की ओर से क्या पत्र जाना चाहिये इस विषय पर मंत्रिमण्डल में और जर्मन पार्लमेंट में घंटों बहस हुई, पर मुझे इसकी कोई सूचना न दी गयी। जिस समय अन्तिम पत्र विल्सन के पास जाने वाला था उस समय मैंने साल्फ़ को कहला दिया कि उसे भेजने से पहले मुझे ज़रूर दिखा ले ताकि मैं सब बातों से वाकिफ रहूँ।

साल्फ़ मेरे पास आया और मुझे उस खत का मज़मून दिखाया। विल्सन ने कहा था कि जर्मन सेना अपने अस्त्र-शस्त्र रख दे। इस पत्र में प्रस्ताव किया गया था कि समझौते की बात-चीत के लिये बिलफेल लड़ाई बन्द कर दी जाय। साल्फ़ को इसी बात का अभिमान था कि उसने पत्र में बड़ी रचना-चातुरी दिखायी थी और अच्छे से अच्छे शब्दों में विल्सन की बात का विरोध किया था। मैंने अपने पदत्याग का जिक्र करते हुए कहा कि समाचारपत्रों में इस सम्बन्ध में तरह तरह की बातें लिखी जा रही हैं, इसका सरकार की ओर से प्रतिवाद निकलना चाहिये। साल्फ़ ने जवाब दिया कि घर-घर इसकी चर्चा हो रही है—लोग खुल्लमखुल्ला आपके पदत्याग का प्रस्ताव कर रहे हैं।

जब मैंने इस पर क्रोध प्रकट किया तब साल्फ़ मानो मेरे आँसू पोंछने के लिये बोला कि श्रीमन्, अगर आपको हटना पड़ा तो कम से कम मैं आपका अनुयायी बनूँगा, क्योंकि आपके न रहने पर मैं हर्गिज अपनी जगह नहीं रह सकता। पर साल्फ़ की सचाई की बलिहारी है कि मेरे हट जाने पर भी—या यों कहना चाहिये कि जर्मन सरकार के मेरे साथ विश्वासघात करने पर भी—वह जहाँ था वहीं बना रहा।

जब चैन्सलर महोदय प्रिन्स मैक्स को मालूम हुआ कि मैं समरभूमि को जाना चाहता हूँ तब वह यह चेष्टा करने लगे कि मैं अपना इरादा बदल दूँ। पहले मुझसे हज़रत ने पूछा कि आप क्यों जाना चाहते हैं? मैंने कहा कि मैं सेना का प्रधान हूँ, पर प्राय: एक महीने से अपने सैनिकों से अलग हूँ, अब मुझे वहाँ जाकर उनकी खोज-खबर लेनी चाहिये। इसके जवाब में आपने फरमाया कि आपका इस समय यहाँ मौजूद रहना जरूरी है। मैंने कहा कि इस समय युद्ध जारी है और सम्राट् का धर्म है अपने सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा करना। मैंने अपना निश्चय प्रकट कर दिया कि ज़रूर जाऊँगा और यह भी कह दिया कि अगर विल्सन का जवाब आ गया कि लड़ाई बन्द की जाय तो उस पर विचार करने के लिये चैन्सलर और उनके मन्त्रियों को फौज के हेडक्वार्टर में आना होगा।

मैं फ्लान्डर्स में अपनी सेना के पास जा पहुँचा। सेनाध्यक्ष को फिर यह हुक्म दिया कि मोर्चा बदल कर Antwerp-Meuse लाइन पर आ जाओ, जिससे फौज को सुस्ताने का मौका मिले। तरह तरह की दलीलें पेश की गयीं। कहा गया कि इसके लिये समय दरकार है, अभी अपने स्थान से न हटना चाहिए—पहले सामान को हटा कर फिर फौज को हटाना चाहिए—इत्यादि इत्यादि। पर मैं अपनी बात पर दृढ़ रहा और सेना-विभाग को अन्त में मेरी आज्ञा का पालन करना पड़ा।

फ्लान्डर्स में विभिन्न पलटनों के प्रतिनिधि मुझ से मिले। अपने सिपाहियों से मैंने बातें कीं और जो बड़ी बहादुरी दिखा चुके थे उन्हें तमगे दिये। जहाँ जहाँ मैं गया, मेरी फौज के अफ-

सरों और सिपाहियों ने मेरा खासा स्वागत किया। एक जगह ऐसा हुआ कि जिस समय मैं एक पलटन वालों को तमगे दे रहा था, दुश्मन का एक हवाई जहाज़ बम बरसाता हुआ ठीक हमारे ऊपर से निकल गया। हमारी तोपों ने और मशीन गनों ने उसे देखते ही उसका जवाब देना शुरू कर दिया। उसके बम हमारी स्पेशल ट्रेन के बिलकुल पास गिरे।

फ़ौजी अफसरों ने एक स्वर से कहा कि जो सिपाही सब से अगले मोर्चे पर लड़ रहे हैं उनका पूरा विश्वास किया जा सकता है। पिछले मोर्चे के सिपाही वैसे न थे। सब से गये बीते वे थे जो छुट्टी बिता कर घर से लौटे थे और जो अपने साथ सत्यानाशी विचार लेते आये थे। इनमें कुछ भी दम न था। नये रंगरूट भी अच्छे बताये गये।

स्पा-नामक स्थान में मुझे समाचार मिला कि देश में मेरे विरुद्ध ज़ोरों से आन्दोलन हो रहा है, पर सरकार किंकर्तव्य-विमूढ़ सी है, उससे कुछ बन नहीं पड़ता। अख़बार वालों ने मंत्रिमंडल का नाम 'डिबेटिंग सोसायटी' रक्खा था और प्रिन्स मैक्सको 'ग़दर वाले चैन्सलर' कहते थे। मुझे पीछे मालूम हुआ कि प्रिन्स उस समय बीमार थे, दस दिन तक इन्फ्लुयन्ज़ा बना रहा—इस लिये कुछ करने धरने में और भी असमर्थ थे। शासन की बागडोर सालफ़ के और समर-समिति के हाथ में थी। वास्तव में आवश्यकता इस बात की थी कि प्रिन्स मैक्स को हटा कर दूसरा चैन्सलर चुना जाय। उनके स्थान पर काम करने वालों को पूरा अधिकार न था और बिना इसके शासन की समस्यायें हल न हो सकती थीं। पार्लमेंट के

विभिन्न दलों का कर्तव्य था कि मुझे प्रिन्स मैक्स की जगह दूसरा चैन्सलर देते, पर ऐसा न हुआ।

अब सरकार की और चैन्सलर की ओर से यह चेष्टा होने लगी कि मैं पद-त्याग कर दूँ। चैन्सलर के भेजे हुए एक मंत्री मेरे पास आये। कहने लगे कि आन्दोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा है, उसे दबाना असंभव है। साथ ही यह भी कहा कि चैन्सलर ने अभी कुछ निश्चय नहीं किया है, पर मुझे आपको परिस्थिति समझाने के लिये यहाँ भेजा है। मंत्री महोदय की राय थी कि मैं स्वतः पद-त्याग कर दूँ जिससे यह न जान पड़े कि मैंने सरकार के दबाव से ऐसा किया है।

मैंने कहा कि मेरे पदत्याग का क्या नतीजा होगा यह आप लोग अच्छी तरह जानते हैं। पर मैं जानना चाहता हूँ कि आप मेरे मंत्री होते हुए और राजभक्ति के विषय में शपथबद्ध होते हुए, मुझसे ऐसा प्रस्ताव किस तरह कर रहे हैं? तब तो हज़रत बगलें झाँकने लगे और अन्त में अपनी सफाई में यह कहा कि मैं तो चैन्सलर की आज्ञा से आया हूँ; उन्हें कोई दूसरा आदमी न मिला, इसी लिये मुझे भेजा। असलियत—जो मुझे पीछे मालूम हुई—यह थी कि मेरे पदत्याग का सब से पहले प्रस्ताव करने वालों में मेरे यह मंत्री-महोदय भी थे।

मैंने पदत्याग करने से साफ़ इन्कार किया। कहा कि अगर सरकार शान्ति नहीं रख सकती तो मैं फौज इकट्ठी कर वहाँ पहुँचता हूँ और इस काम में सरकार का हाथ बँटाता हूँ।

इसके बाद मंत्री-महोदय की, हिन्डनबर्ग और जनरल ग्रोनर से बातें हुईं। मैं भी उपस्थित था। दोनों अफ़सरों ने उन्हें अच्छी

फटकार सुनायी। ग्रोनर ने तो मैक्स के सम्बन्ध में ऐसे शब्दों का व्यवहार किया कि मुझे मंत्री जी की ख़ास तौर से तसल्ली करनी पड़ी।

फील्ड़ मार्शल ने कहा कि आप यह न भूलें कि सम्राट् के पदत्याग करते ही अधिकांश अफ़सर इस्तीफ़ा दे देंगे और हमारे सिपाही लड़ना छोड़ कर घर चल देंगे।

इसके कुछ ही समय बाद मुझे मालूम हुआ कि जो काम इन मंत्री-महोदय को सौंपा गया था उसे चैन्सलर पहले हमारे एक पुत्र को सौंपना चाहते थे। पर उसने क्रोध प्रकट करते हुए अपने पिता के पास ऐसा सन्देश पहुँचाना अस्वीकार कर दिया था।

मैंने अपना एक वक्तव्य मंत्रिमण्डल के पास भेजा था, पर उसे चैन्सलर ने प्रकाशित होने न दिया। इस पर मैंने एक उच्च पदाधिकारी की मार्फत अपना दूसरा वक्तव्य चैन्सलर के पास भेजा। सरकार के प्रति मेरा क्या भाव है—लोकमत का मैं कहाँ तक आदर करने को तैयार हूँ—इन बातों पर मैंने अपने इस वक्तव्य में पूरा प्रकाश डाला था। चैन्सलर ने इसे भी दबा रक्खा, पर दबाव पड़ने पर कुछ दिन बाद प्रकाशित किया। मैंने सुना कि उसका बर्लिन की जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा और समाचारपत्रों ने अपना रुख बदल दिया। मेरे पदत्याग के लिये जो आन्दोलन चल रहा था वह मिटने लगा और कुछ साम्यवादी भी कहने लगे कि अभी कोई कारखाई करने की ज़रूरत नहीं है।

इसके बाद लगातार यह ख़बर मिलती रही कि बर्लिन के साम्यवादी उपद्रव करने वाले हैं और चैन्सलर भयभीत हो रहे हैं। इनके भेजे हुए मन्त्री ने लौट कर जो कुछ सुनाया उसका

उन लोगों पर काफ़ी असर पड़ा। मुझे तो वे ज़रूर हटाना चाहते थे, पर साथ ही इस बात से डरते थे कि इसका परिणाम भयङ्कर होगा।

उनके अपने विचारों में स्पष्टता न थी। उनके कार्य-कलाप से जान पड़ता था कि वे प्रजातन्त्र के पक्ष में न थे, पर उन्हें जानना चाहिए था कि जिस रास्ते पर वे कदम धर चुके थे वह उन्हें सीधे वहीं पहुँचाने वाला था। सरकार की कारवाइयों पर बहुत से लोगों की टीका यह थी कि मंत्रिमण्डल के सदस्य वास्तव में प्रजातन्त्र या रिपबलिक की संस्थापना चाहते थे। चैन्सलर की नीति से कितने ही लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वह प्रजातन्त्र स्थापित हो जाने पर स्वयं राष्ट्रपति बनने के लिये मुझे हटाना चाहते थे। पर मैं ऐसा विश्वास नहीं करता। उनमें और दोष भले ही रहे हों, पर जर्मन राजवंश के पुरुष के मन में ऐसे ओछे विचार का आना असंभव था।

जनरल ग्रोनर परिस्थिति जानने के लिये बर्लिन भेजे गये थे। उन्होंने लौट कर जो रिपोर्ट पेश की उससे मालूम हुआ कि हालत ख़राब थी। क्रान्ति की लहर फैलती जा रही थी। सरकार बिगाड़ना छोड़ कर कुछ बनाती न थी। जनता शान्ति के लिये उतावली हो रही थी—चाहे जैसे भी शान्ति हो! सरकार का रोब-दाब नहीं के बराबर रह गया था और सम्राट् के विरुद्ध आन्दोलन दिन दिन ज़ोर पकड़ता जा रहा था। ग्रोनर का ख़याल था कि ऐसी स्थिति में मुझे शीघ्र ही पदत्याग करना पड़ेगा।

उन्होंने यह भी कहा कि देश में जो सैनिक थे उनका विश्वास करना असम्भव था, और अगर बगावत हुई तो परिस्थिति किसी

के सँभाले न सँभलेगी। बर्लिन में रूस का बोल्शेविक प्रतिनिधि बहुत समय से क्रान्ति के लिये ज़मीन तैयार कर रहा था। उसकी कई ऐसी चिट्ठियाँ पकड़ी गयीं जिनसे यह साबित हुआ कि वह जर्मनी में भी रूस की सी स्थिति उत्पन्न करने के लिये चेष्टा करता आ रहा था। पर यहाँ कोई रोकटोक करनेवाला न था। हमारी सरकार को इसकी ख़बर मिली तो उसने इस पर कुछ भी ध्यान न दिया। या तो बात हँसी में उड़ा दी या यह कह दिया कि बोल्शेविकों से झगड़ा मोल लेने कौन जाय! ग्रोनर ने बताया कि जो सैनिक छुट्टी बिता कर लौटे थे वे अपने साथ ज़हर लेते आये थे और वह ज़हर तमाम फैल चुका था। इसलिये अगर लड़ाई रुक गयी और मुल्क में बग़ावत हो गयी तो फौज के सिपाही बाग़ियों पर गोली चलाने से साफ़ इनकार कर देंगे।

ग्रोनर ने सलाह दी कि फौज का अब भरोसा करना बेवकूफी है और गदर मचने ही वाला है—इसलिये कड़ी से कड़ी शर्त को भी मंजूर कर लड़ाई बन्द कर दी जाय और स्थायी शांति की बातचीत की जाय।

९ नवम्बर को मुझे चैन्सलर की ओर से सूचना मिली कि 'मंत्रिमण्डल के सदस्य अब एक स्वर से कहने लग गये हैं कि कैसर को गद्दी छोड़ देनी चाहिये, और पार्लमेंट में भी बहुमत इसी के पक्ष में है। इसलिये अर्ज़ है कि आप फौरन यह ऐलान कर दें कि आप गद्दी से अलग हो गये। वर्ना बर्लिन में बहुत कुछ ख़ूनख़राबी होने का डर है, बल्कि यह शुरू भी हो गयी है'।

मैंने फ़ौरन फ़ील्ड मार्शल हिन्डनबर्ग को बुलाया। ग्रोनर भी उपस्थित थे। इन्होंने फिर कहा कि फ़ौज लड़ना नहीं चाहती,

इसलिये जो भी शर्त हो मंजूर कर लड़ाई बन्द कर देनी चाहिये। बागियों ने राइन नदी के पुलों पर क़ब्ज़ा कर लिया था और रसद का आना रोक दिया था। अपने पास मुश्किल से सात-आठ रोज के लिये रसद मौजूद थी, इसलिये ग्रोनर की सलाह थी कि लड़ाई बन्द करने की व्यवस्था शीघ्र से शीघ्र होनी चाहिये। युद्ध स्थगित करने की बातचीत करने के लिये एक कमीशन दो रोज़ पहले फ्रेंच लाइन को पार कर चुका था, पर अभी तक कोई ख़बर न मिली थी कि उससे क्या बातें हुईं।

युवराज भी आ गये और हम लोगों का विचार-विनिमय होने लगा। बातचीत के दर्म्यान चैन्सलर महोदय ने कई बार टेली-फोन किया कि साम्यवादी सरकार का साथ छोड़ चुके हैं, इस-लिये अब और विलम्ब करना घातक होगा। समरसचिव ने सूचना दी कि कुछ पलटनों के सिपाही बागियों से जा मिले हैं, पर अभी तक खूनख़राबी नहीं हुई है।

मेरी हार्दिक इच्छा यही थी कि भाई के खून से भाई का हाथ लाल न हो और अगर इसका एकमात्र उपाय यह था कि मैं अलग हो जाऊँ तो मैं सम्राट् का पद त्याग देने को तैयार था—पर प्रशिया की गद्दी छोड़ने को नहीं। मैंने कहा कि प्रशिया के राजा की हैसियत से मैं अपनी फौज के साथ अपना काम करता रहूँगा। कारण यह था कि फौजी अफ़सर मुझसे कह चुके थे कि अगर आपने सब कुछ त्याग दिया तो सिपाही किसी का कहना न मानेंगे और देश लौट कर वहाँ बड़ा उपद्रव मचा देंगे।

मेरी ओर से चैन्सलर को यह सन्देश भेजा जा चुका था कि मैंने अभी कोई निश्चय नहीं किया है, पर इस विषय में गम्भी-

रतापूर्वक विचार कर रहा हूँ, ज्योंही कुछ निश्चित हो जायगा आपको सूचना दे दी जायगी। सूचना देने पर मुझे उत्तर मिला कि अब इससे कोई लाभ नहीं, आपके पदत्याग की घोषणा की जा चुकी! वाह रे घोषणा करनेवाले—पदत्याग होने से पहले ही जो मन में आया उड़ा दिया! युवराज के पदत्याग की तो कोई बात भी न थी, पर घोषणा में यह भी कह दिया कि जर्मनी के युवराज भी राजसिंहासन को त्यागते हैं। हमारे चैन्सलर महोदय ने शासन की बागडोर साम्यवादियों को सौंप दी थी और हर एबर्ट को अपना उत्तराधिकारी बनाने के लिये आमन्त्रित कर चुके थे। इन सब बातों की सूचना संसार को बेतार के तार से दे दी गयी थी।

मैंने जो कुछ निश्चय किया था वह तो किसी ने सुना ही नहीं। फौज को यह गलतफहमी हो गयी कि कैसर ने घोर से घोर संकट के समय में अपनी जान बचाने के लिये हमारा साथ छोड़ दिया।

बड़ा विकट स्थिति उत्पन्न हो गयी। फील्ड मार्शल ने मुझे सलाह दी कि आप किसी तटस्थ देश में चले जायँ, नहीं तो संभव है कि बागी आगे बढ़ आवें और भाई भाई में लड़ाई शुरू हो जाय।

मैं अपनी मानसिक अवस्था का क्या वर्णन करूँ! एक ओर तो मेरा हृदय कहता था कि तू अपने सच्चे साथियों को छोड़ कहीं कैसे जा सकता है? दूसरी ओर हमारे शत्रुओं की यह घोषणा थी कि जब तक मैं रहूँगा तब तक जर्मनी के साथ वे किसी प्रकार की स्थायी सन्धि नहीं कर सकते, और खुद हमारी अपनी सरकार का कहना था कि मेरे देश छोड़ देने से ही भाई भाई की लड़ाई रुक सकती है।

मैंने इस संकट के समय में अपनी चिन्ता बिलकुल छोड़ दी। मैंने यह विश्वास कर कि हमारे देश की भलाई इसी में है—राजसिंहासन को त्याग दिया। राजपाट, धन-दौलत, घर-बार सब कुछ छोड़कर परदेशी बन गया। मुझे दुःख है तो इसी बात का कि मेरे इस आत्मत्याग से देश को कुछ लाभ न पहुँचा। न तो मेरे चले जाने से शत्रुओं ने जर्मनी के साथ किसी तरह की रिआयत की, न देश में आपस की लड़ाई ही रुक सकी। बल्कि फौज और मुल्क दोनों बरबाद हो गये।

तीस बरस तक जिस पौधे को अपने हृदय के रक्त से सींच कर मैंने हराभरा किया था उसे लोगों ने आज उखाड़ के फेंक दिया। सोते-जागते, उठते-बैठते मुझे बस अपनी फौज की फिक्र रहती थी। आज मैं उसीका मातम मना रहा हूँ। साढ़े चार बरस तक हमारी सेना ऐसी बहादुरी से लड़ी कि दुश्मनों के छक्के छूट गये, पर ठीक जब शान्ति के दिन करीब आ गये, सफलता का शिखर बिलकुल पास दीखने लगा तब क्रान्तिकारियों ने पीछे से आकर हमें और हमारी फौज को अपने खंजर का शिकार बना दिया। सबसे सख्त चोट मेरे दिल को इस बात से लगी कि जिस जल-सेना की मैंने अपने हाथों रचना की थी वहीं सबसे पहले बगावत शुरू हुई।

लोग मेरे पदत्याग के विषय में तरह तरह की बातें करते हैं। कोई कहता है कि कैसर को चाहिए था कि किसी पलटन के साथ दुश्मनों पर धावा बोल देते और लड़ाई के मैदान में वीर की तरह मर मिटते। ठीक है, पर इससे देश को कुछ भी लाभ न पहुँचता। कुछ बहादुर व्यर्थ ही गोलियों के शिकार बनते और

जिस प्रस्ताव के साथ बर्लिन से कमीशन भेजा जा चुका था वह कभी स्वीकृत न होता।

कोई कहता है कि कैसर को फौज के साथ बर्लिन लौट जाना चाहिए था। पर मैं शान्तिपूर्वक कभी न लौट सकता। राइन नदी के पुलों पर तथा अन्य स्थानों पर बागियों ने पहले से ही कब्जा कर रखा था। यह ज़रूर है कि तलवार के ज़ोर से बर्लिन पहुँच जाता, पर इससे मुल्क की और भी बरबादी होती। क्योंकि दुश्मन पीछा करने से बाज न आते और जर्मनी में भाई, भाई के खून का प्यासा बन जाता।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि कैसर को उचित था कि आत्महत्या कर लेता। पर ईसाई होने के कारण यह मेरे लिये असम्भव था। अगर मैं आत्महत्या कर लेता तो लोग यही कहते कि 'कैसर कायर था! उत्तरदायित्व से बचने के लिये आत्मघात कर लिया'। मैंने यह भी सोचा कि मेरे देश के लिये घोर विपत्ति का समय आ रहा है, मेरा कर्तव्य है कि मुझसे उसकी जो कुछ सहायता बन पड़े करूँ। शत्रुओं ने सारे संसार में इस सफेद झूठ का प्रचार कर रक्खा था कि महासमर के लिये सर्वथा दोषी जर्मनी है। अपने मुल्क की सफाई के गवाहों में मेरी बराबरी करने वाला कोई न होता, क्योंकि मैं आदि से अन्त तक जानता था कि शान्तिरक्षा के लिये जर्मनी ने क्या क्या प्रयत्न किये थे और कुचक्रियों ने उसके मार्ग में कैसे रोड़े अटकाये थे। इसलिये भी मेरा ज़िन्दा रहना अपने देश के लिये हितकर था।

बहुत तर्क-वितर्क, सोच-विचार और उच्च से उच्च पदाधिकारियों से सलाहमशविरे के बाद मैंने तय किया कि मुझे अपने

तख़्त, ताज और वतन को सलाम कर और कहीं चल देना चाहिये। मेरा विश्वास था कि मेरे हट जाने से जर्मनी का बहुत कुछ लाभ होगा। सन्धि होते समय उसके साथ कड़ी शर्तें न की जायँगी और मुल्क में किसी तरह की ख़ूनख़राबी न होगी। मेरा विश्वास ग़लत निकला, मेरी आशाओं पर पानी फिर गया।

सातवाँ अध्याय

मेरे खून के प्यासे

शत्रुओं को मेरे पदत्याग से पूरा सन्तोष न हुआ। कहने लगे कि हमारे न्यायालय में इस बात का विचार होगा कि भूतपूर्व कैसर और उनके सेना-नायकों को क्या दण्ड मिलना चाहिए। यही नहीं, उन्होंने झट अपनी यह माँग भी पेश कर दी कि 'अभियुक्त' हमारे हवाले कर दिये जायँ। मुझे ज्यों ही इसकी सूचना मिली, मैं अपने मन में विचार करने लगा कि जर्मन जाति और जर्मन सरकार का उत्तर जाने से पहले मैं आत्मसमर्पण कर अपने देश का हितसाधन कर सकता हूँ या नहीं। शत्रुओं का काम तो ज़रूर बन जाता। मेरे आत्मसमर्पण कर देने से जर्मनी की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जाती और वह फिर कभी बराबरी का दावा न कर सकता। मैंने अपने मन में कहा कि मैं जर्मनी की शान के खिलाफ कोई काम न करूँगा। अगर जर्मनी के मानापमान का प्रश्न न होता तो देशहित के लिये मैं आत्मसमर्पण भी कर देता।

इस सम्बन्ध में भी तरह तरह के विचार प्रकट किये गये हैं। जर्मनी में कितने ही लोगों की उस समय राय थी कि मुझे आत्मसमर्पण कर देना चाहिए था। जनता की उस समय ऐसी मनोवृत्ति हो रही थी कि वह अपने आप से अत्यन्त असन्तुष्ट थी और आत्म-शुद्धि के लिये कठोर से कठोर दण्ड सहने को तैयार थी।

उसे उस समय इस बात का ध्यान न था कि शत्रुओं ने जो माँग पेश की थी उसकी तह में राजनैतिक उद्देश था। ऐसी अवस्था में मैंने उन लोगों की राय मानना अ-राष्ट्रीय कार्य्य समझा जो मेरे आत्मसमर्पण पर ज़ोर दे रहे थे। पर कुछ लोग दूसरे विचार से इसके पक्षपाती थे। उनका ख़याल था कि अगर जर्मनी की ओर से सारी कारवाइयों की जिम्मेवारी मैंने अपने ऊपर ले ली तो जर्मन जाति दोष से बहुत कुछ मुक्त हो जायगी और उसको उतना कठोर दण्ड न मिलेगा। मैंने इस पर बहुत सोच विचार किया। यों तो अपने देश के संघटन के अनुसार, जिम्मेवारी मेरी नहीं बल्कि एकमात्र चैन्सलर की थी, पर अगर इससे जर्मनी की भलाई की आशा होती तो मैं संसार के सामने सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेने को तैयार था।

शर्त यही थी कि इससे जर्मनी की भलाई की सम्भावना हो। उसके लिये मैं सब कुछ त्याग सकता था। मुझे लोगों ने विश्वास दिलाया था कि आपके पदत्याग कर देने से आपके देश का बहुत कुछ कल्याण होगा। मुझे पीछे मालूम हुआ कि विश्वास दिलानेवालों में कुछ ने धोखा खाया और कुछ ने धोखा दिया, पर जब मुझे यक़ीन हो गया कि इससे मेरे देश को लाभ पहुँचेगा तब मुझे आत्मबलिदान करते ज़रा भी देर न लगी। उसी प्रकार अगर यह निश्चय होता कि आत्मसमर्पण करके मैं अपने देश की वास्तविक भलाई कर सकता था तब मुझे उसमें भी कुछ संकोच न होता। पर उस भलाई की संभावना क्या थी?

मेरे आत्मसमर्पण का अगर कोई फल होता तो यही कि शत्रुओं की आज्ञा का पालन हो जाता, जर्मनी आत्मगौरव से

हाथ धो बैठता। न्याय की आशा तो दुराशामात्र थी। लड़ाई में भाग लेने वाले सारे राष्ट्र जब तक अपने कुल कागज़ात संसार के सामने नहीं रख देते तब तक कोई भी न्यायालय दोषादोष का यथार्थ विचार नहीं कर सकता। पर वर्सेल की सन्धि के समय जो लोग हमारे शत्रुओं की मनोवृत्ति का परिचय पा चुके थे उन्हें कब ऐसी आशा हो सकती थी कि वे किसी भी न्यायाधीश को अपने कुल कागज़ात देखने देंगे? बड़प्पन उन्होंने न तो युद्ध के समय दिखाया था न सन्धि के समय। फिर उनकी उदारता और न्यायप्रियता के भरोसे अपने आपको उनके हाथ में देकर देश के हित की आशा करना मूर्खता नहीं तो और क्या था? हर पहलू पर सोच-विचार कर मैं इसी नतीजे पर पहुँचा कि मुझे आत्म-समर्पण हर्गिज़ न करना चाहिए।

आमतौर से मैं यह कह देना चाहता हूँ कि जब जब हमने अपने शत्रुओं का विश्वास किया तब तब हमने धोखा खाया। कुछ जर्मनों ने बड़े ही शुद्ध हृदय से मेरे आत्म-समर्पण का प्रस्ताव किया था। उन्होंने यह विचार न किया कि आख़िर शत्रुओं की ओर से इस पर इतना ज़ोर क्यों दिया जा रहा था।

अगर सत्यासत्य का सचमुच निर्णय करना है तो एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत बैठनी चाहिए, जिसमें किसी के पक्षपात की तनिक भी आशंका न हो और जो पूरी जाँच-पड़ताल के बाद अपना फैसला सुनावे कि किस प्रकार महासमर की भूमिका बाँधी गयी। दो-एक आदमियों को सदोष या निर्दोष बता देने से ही उस पंचायत के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो सकती। उसे तो यह विचार करना होगा कि किस राष्ट्र के कारनामे क्या

थे और किसने उस कांड में क्या भाग लिया। पर यह आवश्यक है कि जिस प्रकार जर्मनी ने अपने कुल कागज़ात संसार के सामने रख देने का उपक्रम कर दिया है उसी प्रकार युद्ध में भाग लेने वाले सभी राष्ट्र कर दें। जर्मनी ऐसी पंचायत या न्यायालय में ज़रूर जा सकता है। क्या दूसरे राष्ट्रों के विषय में भी यही कहा जा सकता है! अगर नहीं, तो दोषी कौन है?

इस संबन्ध में मेरे विचार क्या हैं, यह मैंने अपने उस पत्र में स्पष्ट कर दिया है जिसे मैंने ५ अप्रेल, १९२१ को फ़ील्ड मार्शल हिन्डनबर्ग के पास भेजा था। उन्होंने उसे प्रकाशित भी कर दिया है। वास्तव में वह उनके पत्र के उत्तर में लिखा गया था। नीचे दोनों पत्र उद्धृत किये जाते हैं। हिन्डनबर्ग का पत्र इस प्रकार था:—

हैनोवर, मार्च ३०—१९२१

श्रीमान् सम्राट् की सेवा में:—

मेरी स्त्री की अस्वस्थता के संबन्ध में श्रीमान् ने जो पूछताछ की है उसके लिये आपको कोटिशः धन्यवाद हैं। अभी तक उसकी हालत ख़राब ही बनी हुई है।

मैं यहाँ की कौन सी बात सुनाऊँ! परिस्थिति सुधरी नहीं है। मध्य जर्मनी में उपद्रव जारी हैं और सरकारी सूचनाओं से यह भले ही प्रकट न हो पर असलियत यह है कि वहाँ परिस्थिति बड़ी चिन्ताजनक हो रही है। मैं आशा करता हूँ कि शीघ्र ही वहाँ शान्ति हो जायगी।

वर्सेल की सन्धि का वास्तविक उद्देश क्या था यह दिन-दिन स्पष्ट होता जा रहा है। कड़ी शर्तों से जर्मन जाति इस तरह

जकड़ दी गयी कि आज वह हाथ-पाँव भी नहीं हिला सकती। बोझ इतना भारी है कि उसकी कमर टूटने पर है।

इस अन्याय को न्याय का रूप देने के लिये जर्मनी को संसार की दृष्टि में दोषी ठहराना ज़रूरी था। शत्रुओं की ओर से बराबर इस बात पर ज़ोर दिया जा रहा है कि सारी ख़ून-ख़राबी के लिये जर्मनी जिम्मेवार है।

मि० लायड जार्ज ने गत वर्ष २० दिसंबर को अपने भाषण में कहा था कि १९१४ के ग्रीष्म-काल में कोई भी जिम्मेवार पदाधिकारी लड़ाई न चाहता था, और सबके सब राष्ट्र फिसलते-फिसलते या लुढ़कते-लुढ़कते उस खाई में जा गिरे। पर आज वही हज़रत अपनी बात को ताक पर रख के दूसरा ही राग अलाप रहे हैं। लंदन की कान्फरेन्स में ३ मार्च को आपने फरमाया कि वर्सेल की सन्धि का आधार या भित्ति यही है कि महासमर के लिये एकमात्र दोषी जर्मनी था—और अगर जर्मनी इससे इन्कार करता है तो वह सन्धि नहीं ठहर सकती।

जर्मन जाति का भविष्य इस प्रश्न से बहुत गहरा संबन्ध रखता है। वर्सेल में हमारे शत्रुओं ने डरा-धमका कर, जर्मन प्रतिनिधियों से यह स्वीकार करा लिया कि महासमर के लिये कोई दोषी था तो जर्मनी। आज हमें उसी स्वीकृति का फल मिल रहा है।

श्रीमान् के विचारों से मैं विशेष रूप से परिचित हूँ और मैं यह निस्संकोच कह सकता हूँ कि जब तक आप गद्दी पर रहे आपका ध्येय यही था कि सर्वत्र शान्ति बनी रहे। अपने देश के हितसाधन में सहयोग न कर सकने से आज आपको जो मर्मान्तक दुःख हो रहा है उसे मैं भलीभाँति समझ सकता हूँ।

श्रीमान् ने ऐतिहासिक तथ्यों का जो संग्रह तैयार किया है और जिसकी एक प्रति हाल में मेरे पास भेजने की कृपा की है, वह बड़े काम की चीज़ है। उससे संसार का बहुत कुछ भ्रम दूर हो जायगा। मुझे इस बात का खेद है कि श्रीमान् ने उसे अभी तक सर्वसाधारण के लिये प्रकाशित नहीं किया है। विदेशी समाचारपत्रों में उसका बहुत कुछ अंश प्रकाशित कर दिया गया है। इस लिये मेरी राय है कि उसे पूरा का पूरा जर्मनी में भी प्रकाशित कर देना चाहिए।

मुझे यह सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि सम्राज्ञी का स्वास्थ्य इधर बहुत कुछ सुधर चला है। परमात्मा उन्हें पूर्ण आरोग्य प्रदान करे।

श्रीमान् का कृतज्ञ सेवक और भक्त—
(ह०) हिन्डनबर्ग, फ़ील्ड मार्शल

मेरा उत्तर इस प्रकार था:—

हौस डूर्न, अप्रेल ५—१९२१

मेरे प्यारे फ़ील्ड मार्शल,

आपका ३० मार्च का पत्र मिला। उसके लिये मैं आपको अन्तस्तल से धन्यवाद देता हूँ।

आपका कहना बिलकुल ठीक है। मेरे लिये दारुण से दारुण दुःख यह है कि मैं यहाँ विदेश में पड़ा अपने देश के विपन्न होने का समाचार सुना करता हूँ; पर जिसकी सेवा में मैंने अपना सारा जीवन लगा दिया उसके लिये आज कुछ भी नहीं कर सकता।

सेनापति हिन्डनबर्ग

(आपका युद्धकला-कौशल जगद्विख्यात है—इस समय आप ही जर्मन प्रजातंत्र के प्रेसिडेंट या अध्यक्ष हैं)

आप नवंबर १९१८ के दुर्दिन में बराबर मेरे साथ थे। आप जानते हैं कि मैंने आपके और अपने दूसरों सलाहकारों के यह कहने पर ही अपना देश छोड़ा था कि बिना इसके न तो जर्मनी में भाई भाई की लड़ाई रुक सकती है न उसके साथ दुश्मनों की ओर से कोई रिआयत हो सकती है।

पर वह आत्मत्याग, वह आत्म-बलिदान व्यर्थ हुआ। शत्रु तो आज भी जर्मनी के ख़ून के प्यासे हैं, उनकी रक्त-पिपासा किसी प्रकार शान्त न हो सकी।

मेरी नीति बराबर यह रही है कि मेरे साथ कोई कुछ करे, मुझे भला बुरा जो मन में आवे कहे, मैं स्वार्थ को देशहित की वेदी पर बलिदान कर देने के लिये सदा प्रस्तुत रहूँगा। मुझे गालियाँ दी जाती हैं, तरह तरह से बदनाम किया जाता है पर मैं कभी इनका जवाब नहीं देता। चुपचाप सब कुछ बर्दाश्त कर लेता हूँ।

आपने जिस पुस्तक का ज़िक्र किया, मेरा विचार था कि उसका प्रचार अपनी मित्रमंडली तक ही परिमित रहे। मुझे मालूम नहीं विदेशी पत्रों तक वह किस प्रकार पहुँच गयी। या तो किसीसे भूल हुई होगी, या किसीने चोरी की होगी। मैंने ऐतिहासिक तथ्यों का यह संकलन केवल इसी उद्देश्य से किया था कि पढ़नेवाला आप ही अपना निर्णय कर ले कि किसने क्या किया। महासमर के बाद उससे संबन्ध रखनेवाला जो साहित्य तैयार हो चुका है उसीके—और विशेष कर विदेशी लेखकों के ग्रंथों के—आधार पर मैंने यह पुस्तक लिखी है। मेरे लिये सन्तोष की बात है कि वह आपको उपयोगी जँची। उसे प्रका-

शित करने की आपने जो राय दी है उसके लिये आपको धन्यवाद देता हूँ। ऐसा ही करूँगा।

सत्य किसीके छिपाये छिप नहीं सकता, किसीके दबाये दब नहीं सकता। अगर कोई अपने कान बन्द कर ले तो दूसरी बात है नहीं तो किसका हृदय यह स्वीकार न करेगा कि अपने २६ बरस के शासन में मैंने जर्मनी की पर-राष्ट्र-नीति का एकमात्र लक्ष्य यही रक्खा कि शान्ति बराबर बनी रहे। हमारा उद्देश यही था कि हमारे वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति हो और पूरब या पश्चिम से अगर कोई हम पर आक्रमण करे तो हम आप अपनी रक्षा कर सकें।

हम अगर सचमुच लड़ाई चाहते तो हमारे लिये १९०० से अच्छा मौका और क्या हो सकता था? उस समय इँगलैंड बोअर युद्ध में लगा हुआ था और रूस की जापान से मुठभेड़ हो रही थी। उस समय हमारी विजय में तनिक भी सन्देह न हो सकता था। १९१४ में तो हमारे विरुद्ध शत्रुओं का ऐसा जबर्दस्त संगठन हो रहा था—हम उस समय लड़ाई मोल लेकर क्या लाभ उठा सकते थे? जो लोग पक्षपात-रहित हैं उन्हें मानना होगा कि जर्मनी को लड़ाई से कुछ भी लाभ की आशा न हो सकती थी। हाँ, हमारे शत्रुओं का लाभ ज़रूर था। वे तो इसी बात पर तुले हुए थे कि किसी प्रकार हमारी हस्ती मिटा दें, और उनकी इच्छा लड़ाई से ही पूरी हो सकती थी।

१९१४ की जुलाई और अगस्त में, शान्ति-रक्षा के लिये जर्मनी ने कुछ भी उठा न रक्खा। प्रमाण के तौर पर मैं उन ग्रंथों का हवाला देना चाहता हूँ जो जर्मनी में और अन्यत्र

प्रकाशित होते जा रहे हैं। खुद सैज़ेनाफ़ ❀ का बयान है कि 'कैसर शान्ति के प्रेमी और पक्षपाती हैं, इससे हम यह लाभ ज़रूर उठा सकते हैं कि जब चाहें तभी लड़ाई करा दें'—हमारे निर्दोष होने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? इससे तो स्पष्ट है कि जिसने युद्ध का विचार भी मन में न आने दिया था उस पर आक्रमण की बात पहले से ही सोची जा रही थी।

परमात्मा इस बात का साक्षी है कि लड़ाई रोकने के लिये मुझसे जो कुछ हो सकता था मैंने किया। हमलोगों ने तलवार तभी उठायी जब देखा कि आत्मरक्षा का और कोई उपाय नहीं है।

जर्मनी के माथे दोष मढ़ने से वह दोषी नहीं हो सकता। आज यह निर्विवाद सिद्ध है कि युद्ध के लिये कोई दोषी है तो हमारे शत्रुओं का गुट, जिसने इसके लिये बरसों से तैयारियाँ कर रक्खी थीं।

अपने पाप पर पर्दा डालने के लिये इन लोगों ने वर्सेल की सन्धि के समय, जर्मनी से यह स्वीकार करा लिया कि हम युद्ध के लिये पूर्णतः दोषी हैं। और साथ ही यह माँग भी पेश कर दी कि हमारे न्यायालय में कैसर का विचार होगा। आपसे यह बात छिपी नहीं है कि अपनी मातृभूमि के लिये मैं सब कुछ त्याग देने को तैयार हूँ। पर उस न्यायालय से न्याय की आशा मैं कब कर सकता था जहाँ मेरे दुश्मन ही फ़र्य्यादी हों और दुश्मन ही फ़ैसला लिखने वाले हों? मैंने उनकी बात मानने से साफ़ इन्कार कर दिया।

पर अगर यह भी कहा जाता कि फ़ैसला ऐसे जज करेंगे

❀ रूस का परराष्ट्र सचिव।

जो तटस्थ देशों के रहने वाले होंगे तो भी मैं उनके सामने कभी हाज़िर न होता। जो काम मैंने जर्मन जाति के प्रतिनिधि और सम्राट् की हैसियत से, अपनी विवेकबुद्धि के अनुसार किया, उसके लिये संसार का कोई भी न्यायाधीश या न्यायालय मुझे दोषी क्यों न ठहराये मैं उसके फ़ैसले को रद्दी की टोकरी में फेंक दूँगा। क्योंकि अगर मैं उसका फ़ैसला मान लूँ तो इससे जर्मनी की शान और इज्ज़त मिट्टी में मिल जायगी।

क़ानूनी कारवाई का अभिप्राय दोष प्रमाणित करना और दण्ड देना था। पर जिस राष्ट्र का सम्राट् अभियुक्त होता वह कभी औरों की बराबरी का दावा न कर सकता। इससे लोगों का यह भी ख़याल होता कि जिस राष्ट्र के सम्राट् का विचार हो रहा है वही वास्तव में युद्ध के लिये दोषी है। पर एक व्यक्ति के विचार का क्या अर्थ? अगर सत्य का निर्णय करना है तो युद्ध में भाग लेने वाले प्रत्येक राष्ट्र की राजनीति-नौका के कर्णधार और उसके प्रधान सहायकों का विचार होना चाहिये। तभी पता लग सकता है कि सचमुच दोषी कौन था?

युद्ध के बाद जर्मनी ने प्रस्ताव किया था कि दोषादोष के निर्णय के लिये एक ऐसी पंचायत बैठायी जाय जो अन्तर्राष्ट्रीय होने के साथ पक्षपातरहित हो, और जिसके सामने व्यक्तियों का विचार न हो कर यह विचार हो कि लड़ाई के लिये किस तरह मैदान तैयार किया गया, किस देश की ओर से कब कौन सी कारवाई हुई, और किसका इसमें क्या भाग था। पर इस प्रस्ताव को किसीने स्वीकार न किया। लड़ाई बन्द होते ही जर्मनी ने अपने कुल काग़ज़ात दुनिया के सामने रख दिये। हमारे

शत्रुओं ने अभी तक उसका अनुकरण नहीं किया है। हाँ, रूस की ओर से अमेरिका में इस कार्य्य का श्रीगणेश हो चुका है।

शत्रुओं की इस नीति से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोषी सचमुच कौन है! जर्मनी का कर्तव्य है कि इस विषय से संबन्ध रखने वाली जो बात जहाँ मिले उसका संकलन और प्रकाशन करता जाय जिससे उन कुचक्रियों का पर्दाफ़ाश हो जाय और संसार को यह प्रत्यक्ष हो जाय कि किसके किये यह सब कुछ हुआ।

सम्राज्ञी की अस्वस्थता और भी बढ़ गयी है। मैं इस समय बहुत चिन्तित हूँ। परमात्मा हमारा सहायक हो!

आपका कृतज्ञ
(ह०) विलियम

आठवाँ अध्याय

दोषी कौन था ?

१९१४ से १९१८ तक का महासमर संसार के इतिहास में अपनी तरह का एक ही हुआ है। लोग इसके कारण ढूँढ़ने में लगे हुए हैं, पर अभी तक कुछ तय न हो पाया। यह आश्चर्य्य की बात है, क्योंकि महासमर में भाग लेने वाली जातियाँ बड़ी शिक्षित और समझदार थीं और उसके कारण बिलकुल साफ़ थे।

१९१४ के जुलाई महीने में जो घटनाएँ घटीं उनका महत्त्व उतना नहीं है जितना उनसे पहले की घटनाओं का। जब पाप का घड़ा फूटने पर आ गया तब हर जगह हलचल मच गयी। तार पर तार आने जाने लगे, राजनीति की दुनिया में दौड़-धूप शुरू हो गयी। बातचीत, ख़तकिताबत, लिखापढ़ी का ठिकाना न रहा। इस विषय में उच्चपदाधिकारियों की ज़बान या कलम से निकला हुआ प्रत्येक शब्द महत्त्वपूर्ण है, पर महासमर का वास्त-विक कारण ढूँढ़नेवाले को इस भूलभुलैयाँ में पड़ कर अपना समय नष्ट न करना चाहिए।

महासमर के बहुत दिन पहले से जर्मनी की आशातीत उन्नति हो रही थी। वाणिज्य-व्यवसाय में वह बड़े वेग से आगे बढ़ता जा रहा था और संसार भर में उसके कल-कारखाने मश-हूर हो चले थे। नतीजा यह हुआ कि हमारी चीज़ें उन स्थानों में सस्ते दाम बिकने लगीं जहाँ अब तक इँगलैंड का एकाधिपत्य

था, और इस लिये हम ख़ास कर उसकी आँखों में काँटे के समान चुभने लगे। इसमें न तो आश्चर्य्य करने की कोई बात है न बुरा मानने की। हमारे गाहक अगर हमारी दूकान छोड़ कर दूसरे की दूकान पर जाने लगें तो हमें ऐसी प्रतियोगिता कब सुख की नींद सोने देगी ? ब्रिटिश साम्राज्य को अगर हमारी उन्नति खलने लगी, वह हमारी तरक्की देख कर जलने लगा तो मैं इसके लिये उसकी निन्दा नहीं करता।

इँगलैंड को मुनासिब था कि वह अपने वाणिज्य-व्यापार की नीति-रीति में सुधार करता और अपना माल सस्ता कर हमारी प्रतियोगिता को विफल कर देता। व्यापार का जवाब व्यापार से देने का उसे पूरा अधिकार था, और इसमें किसी को कोई आपत्ति न हो सकती थी। जो अधिक योग्य होता वह बाज़ी मार ले जाता।

पर इँगलैंड ने और ही तरीका इख़्तियार किया। जब उसने देखा कि हमारा व्यापार चौपट हो रहा है और हम जर्मनी का मुकाबला नहीं कर सकते तब वह ज़ोर-जबर्दस्ती करने की, अपने प्रतियोगी का गला घोंट देने की तदबीर सोचने लगा।

अपनी रक्षा के लिये हमें जल-सेना रखनी पड़ी। हम इँग-लैंड का क्या कर सकते थे ? यह बात बिलकुल निस्सार है कि हमारा उद्देश्य ब्रिटिश बेड़े पर हमला करना और उसे नष्ट कर देना था। हमारी छोटीसी जल-सेना यह दुस्साहस किस बलबूते पर कर सकती थी ? हम तो व्यापार में योंही आगे बढ़ते जा रहे थे, लड़-भिड़ कर अपना किया-कराया मिट्टी कर देना हमें कब अभीष्ट होता ?

फ्रान्स १८७०-७१ के बाद से बदला लेने पर तुला हुआ था। वहाँ के पत्रों में, पुस्तकों में, स्कूलों में, सभा-समितियों में तमाम इसी भाव का प्रचार किया जाता कि सपूत वही जो जर्मनी से बदला लेना न भूले।

मैं प्रतिशोध के इस भाव की भी इज्ज़त कर सकता हूँ। चुपचाप मार खा लेने के बजाय उसका जवाब देने का हौसला रखना कहीं अधिक मनुष्योचित है।

पर आल्सेस-लारेन (Alsace-Lorraine) सदियों से जर्मन भूमि है। फ्रान्स ने उसे हमारे हाथों से झपट लिया था, और १८७१ की लड़ाई में हमने अपनी भूमि पर फिर से अधिकार कर लिया। ऐसी हालत में बदला लेने की कोई बात न थी। फ्रान्स के लिये जर्मन भूमि को हड़पने की इच्छा रखना अनुचित और अन्यायपूर्ण था। हाँ, अगर हम अपनी चीज़ गँवा कर चुपचाप बैठ रहते तो हम ज़रूर कायर और कपूत समझे जाते। फ्रान्स को यह मालूम था कि जर्मनी हमें खुशी-खुशी आल्सेस-लारेन (Alsace-Lorraine) लौटाने का नहीं है, इस लिये उसकी इच्छापूर्ति केवल ऐसे युद्ध से हो सकती थी जिसके अन्त में वह जीत का डंका बजाता हुआ राइन नदी के बायीं ओर की सारी ज़मीन पर कब्ज़ा कर ले। फ्राँस से लड़ने-भिड़ने की बात हमारे मन में क्यों कर आ सकती थी, क्योंकि एक तो यह जोखिम थी कि हमारी अपनी जो चीज़ हाथ में आ गयी है वह फिर निकल जायगी, दूसरे, हम बखूबी देख रहे थे कि हमारे विरुद्ध कई महाशक्तियों का प्रबल संगठन हो रहा है।

रूस दक्षिण में समुद्र पर अधिकार जमाने के लिये रास्ता ढूँढ़ रहा था। सर्विया में उसका काफ़ी प्रभाव था, पर आस्ट्रिया उसके मार्ग में कंटक था। हमारी आस्ट्रिया से मित्रता थी, इस लिये रूस से हमारी शत्रुता होना स्वाभाविक ही था।

रूस की सरकार एक और कारण से लड़ाई का मौका ढूँढ़ रही थी। वहाँ की शासन-प्रणाली अत्यन्त दूषित थी, इस कारण समय समय पर बड़े उपद्रव हुआ करते थे। लोगों का ध्यान दूसरी ओर दिलाने के उद्देश से वहाँ की सरकार बराबर किसी न किसी लड़ाई के लिये तैयार रहती थी। मतलब यह कि लोग ऐसे काम में लग जायँ कि घर पर किसी प्रकार की अशान्ति या उपद्रव न हो।

फिर रूस फ्रान्स का बड़ा कर्ज़दार भी था। करोड़ों रुपये उसने फ्रान्स से कर्ज ले रक्खे थे, इस लिये उसे बहुत कर फ्रान्स के इच्छानुसार चलना पड़ता था। फ्रान्स कर्ज देता था और रुपया लड़ाई का सामान जुटाने में ख़र्च कराता था। रूस कर्ज के बोझ से दबे रहने के कारण फ्रान्स के हाथ की कठपुतली हो रहा था।

इस प्रकार इंगलैंड, फ्रान्स और रूस तीनों ही अपने अपने मतलब से जर्मनी को मिटा देने की ख़्वाहिश रखते थे। इंगलैंड अपने व्यापार पर आघात पहुँचने के कारण जलाभुना हुआ था। फ्रान्स अपनी प्रतिशोधपिपासा शान्त करना चाहता था। रूस फ्रान्स का पिट्ठू हो रहा था, और दूसरे कारणों से भी लड़ाई मना रहा था। इनके बीच में जर्मनी चारों ओर से घिरा हुआ था।

उसके लिये एक ही मार्ग था—लड़ाई-झगड़े से बचते रहना और अपनी ताक़त बढ़ाते जाना। हम गाफ़िल रहना नहीं चाहते

थे, साथ ही खून-खराबी से जहाँ तक हो सके बचना चाहते थे। हमारे शत्रुओं का उद्देश बिना लड़ाई के पूरा न हो सकता था; जर्मनी को अपनी उद्देशसिद्धि के लिये हथियार उठाने की कुछ भी ज़रूरत न थी। बस अगर इतना ध्यान में रहा तो लड़ाई के वास्तविक कारण समझने में ज़रा भी कठिनाई न होगी। मैं यहाँ इन बातों का वर्णन करना नहीं चाहता कि लड़ाई छिड़ने से पहले किसने क्या तार भेजा और किसने क्या जवाब दिया। जैसे डाल-पात और चीज़ है, मूल और चीज़, वैसे ही ये घटनायें महत्त्वपूर्ण होती हुई भी युद्ध के मूल कारणों में नहीं हैं।

इंगलैंड के विषय में कुछ और कहना है। मेल-जोल के लिये जर्मनी ने कुछ भी उठा न रक्खा। हम इस बात के लिये भी तैयार हो गये कि अपनी जल-सेना को एक हद से आगे बढ़ने न देंगे। पर सब व्यर्थ! सप्तम एडवर्ड ने अपनी नीति न छोड़ी। कारण यह था कि वह मेरे आत्मीय होते हुए भी अंगरेज़ थे, इसलिये जो कुछ करते थे अपनी सरकार के इच्छानुसार।

हमलोग इंगलैंड के साथ समझौता करने को तैयार थे, पर हमसे यह न हो सकता था कि हम अपना व्यापार न बढ़ने दें। इंगलैंड की परितुष्टि और किसी बात से न हो सकती थी, इस लिये हमारी चेष्टाओं का कुछ फल न हुआ।

एक बार इँगलैंड के औपनिवेशिक मंत्री मि० चेम्बरलेन यह प्रस्ताव लेकर आये कि इंगलैंड और जर्मनी के बीच ऐसा समझौता हो जाय कि एक दूसरे का बराबर साथ दें। मुझ पर यह दोषारोपण किया गया है कि मैंने वह प्रस्ताव स्वीकार न किया। बात दर असल यह थी:—

चेम्बरलेन अपने साथ प्रिन्स ब्यूलो के नाम प्रधानमंत्री लार्ड सेलिसबरी की एक चिट्ठी लाये थे। उसमें उन्होंने लिखा था कि चेम्बरलेन जो कुछ प्रस्ताव कर रहे हैं अपनी ओर से कर रहे हैं—ब्रिटिश मंत्रिमंडल उनके साथ नहीं है। पर यह विचार कर कि ऐसे मामलों में ब्रिटिश मंत्रिमंडल अपने आपको पहले प्रतिज्ञाबद्ध होने नहीं देता और समझौते की बातचीत प्रायः इसी प्रकार शुरू होती है, मैंने ब्यूलो से कहा कि ज़रा बारीक नज़र से देख जाइए कि बात क्या है।

तब मालूम हुआ कि इँगलैंड और जर्मनी के बीच जिस समझौते का प्रस्ताव किया जा रहा था उसका यथार्थ उद्देश था रूस के विरुद्ध संगठन करना। चेम्बरलेन ने खुल्लमखुल्ला कहा कि इँगलैंड और जर्मनी मिलकर रूस को पछाड़ देंगे। प्रिन्स ब्यूलो ने मुझसे सहमत होकर कह दिया कि यूरोप की शान्ति भंग करने के लिये जर्मनी किसी के साथ कोई समझौता नहीं कर सकता। प्रिन्स बिस्मार्क की भी नीति यही थी और उनके शब्द आज भी मुझे याद हैं:—'जर्मनी को चाहिए कि कभी अपने आपको यूरोप में इँगलैंड के हाथ का खंजर बनने न दे'। हम लोग उसी कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहे और अपने आपको इँगलैंड के हाथ का खंजर बनने न दिया। हमारी शान्ति-प्रियता का यह भी एक प्रमाण है।

फ्रान्स के साथ समझौता कर लेने की हमारी ओर से बड़ी चेष्टायें हुईं, पर फ्रान्स पर बदला लेने की ऐसी धुन सवार थी कि हमें कुछ भी सफलता प्राप्त न हो सकी।

मोरक्को में फ्रान्स की नीति के कारण हमारे स्वार्थ को धक्का

लगा, पर शान्ति की रक्षा के लिये हमने झगड़ा निपटा लिया, बात बिगड़ने न दी। एक बार और ऐसा जान पड़ा कि अब लड़ाई न रुकेगी, पर हम चुपचाप बैठ गये।

मुझसे जहाँ तक बन पड़ता था मैं फ्रान्स और जर्मनी के बीच सद्भाव बढ़ाने की चेष्टा करता था। सामाजिक क्षेत्र में मेरा इस ओर विशेष ध्यान रहता था कि हम एक दूसरे के यहाँ आया जाया करें, एक दूसरे का आतिथ्य स्वीकार करें, एक दूसरे के भावों से परिचित हों।

रूस और जर्मनी के बीच मित्रता स्थापित करने के लिये मैंने विशेष उद्योग किया। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अगर तृतीय अलेक्ज़ैन्डर वहाँ की गद्दी पर होते तो रूस जर्मनी के विरुद्ध कभी न लड़ता। ज़ार निकोलस में बल या दृढ़ता न थी—उनकी नीति बराबर डाँवाडोल रहती थी। मुझसे मिलते तब एक बात कहते, पर अलग होते ही रंग बदल जाता। उनकी यह हालत थी कि सुबह को कुछ शाम को कुछ—दिन में सबसे पीछे जिससे बातें कीं उसीके प्रभाव में आ गये।

जर्मनी और रूस के बीच किसी समय गाढ़ी मित्रता थी। मैं चाहता था कि वही दृश्य फिर देखने में आये। मेरा उद्देश केवल राजनैतिक था, यह बात नहीं है। मैंने अपने पितामह को उनकी मृत्युशय्या पर यह वचन दिया था कि मैं बराबर रूस से मित्रता बनाये रखने की चेष्टा करूँगा।

मैं बराबर ज़ार निकोलस को सलाह देता था कि आप अपने देश में उदार नीति का अवलम्बन करें और शासन-सुधार कर दें। मैं रूस के घरू मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना

नहीं चाहता था। मेरा उद्देश इतना ही था कि मैं ज़ार की और उनके देश को थोड़ी बहुत सेवा कर सकूँ और रूस की नीति-रीति में ऐसा परिवर्तन करा सकूँ जिससे वह ख़्वामख़्वाह लड़ाई करने को तैयार न रहे। पर ज़ार ने मेरी बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया, अपने ही पथ के पथिक बने रहे।

जिस समय उन्होंने जापान से भिड़ने का निश्चय किया उस समय मैंने उन्हें वचन दिया कि आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें, मैं आपको किसी प्रकार का कष्ट न दूँगा। मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। इस युद्ध के सम्बन्ध में मैंने उनकी और भी सहायता की जिसके लिये उनके चाचा ने मुझे अनेकानेक धन्यवाद दिये। उस समय रूस में क्रांति होने की संभावना थी। पर उसको रोकने में भी मेरा हाथ था। इन सब बातों से यह प्रमाणित है कि हमारा भाव क्या था और हम शान्ति चाहते थे या अशान्ति।

दो शब्द अमेरिका के विषय में भी। सप्तम एडवर्ड ने जर्मनी को मिटा देने के लिये जो गुट बना रक्खा था उसमें अमेरिका शामिल न था। फिर भी संभव है कि उसके और इँगलैंड के बीच ऐसा समझौता था कि जब मौक़ा आ पड़े तब वह जर्मनी के विरुद्ध इंगलैंड का साथ दे।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अमेरिका के साथ देने से हमारे शत्रुओं को आशातीत सहायता पहुँची और इससे परिस्थिति में बहुत कुछ अन्तर पड़ गया। इतनी बड़ी तादाद में अमेरिका से हमारे शत्रुओं को युद्ध की सामग्री मिली कि जहाँ घोर निराशा थी वहाँ अब विजय की पूरी आशा दीखने लगी।

मैं किसी को कोसना नहीं चाहता। राजनीति का खेल दावँ-पेच का खेल है। इसमें प्रत्येक देश वही चाल चलता है जो उसे अपने लिये हितकर जान पड़ती है। इसमें चाल का जवाब चाल से देना पड़ता है; रोने, सिसकने, कोसने या शाप देने से कोई मतलब नहीं निकलता। अमेरिका को स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से तटस्थ रहने या लड़ाई में भाग लेने का पूरा अधिकार था। मैं अमेरिका की इसलिये कभी निन्दा नहीं कर सकता कि उसने भी हम पर वार किया।

हाँ—जैसा कि जान केनेथ ने अपनी पुस्तक* में प्रमाणों का ढेर लगा कर दिखा दिया है—इतना ज़रूर है कि विलसन ने लड़ाई में शामिल होने के जो कारण बताये थे उनमें कुछ भी यथार्थता न थी। उसकी बातें बनावटी थीं। असलियत यह थी कि अमेरिका के पूँजीपतियों का उस पर ऐसा दबाव पड़ा कि उसे युद्ध की घोषणा करनी ही पड़ी।

अमेरिका को इस विश्वव्यापी युद्ध से बड़ा लाभ हुआ। संसार में जितना सोना था उसका आधा हिस्सा खिंच कर अमेरिका चला गया। इस समय व्यवसाय-संसार में ब्रिटिश पौंड की नहीं, बल्कि अमेरिकन डालर की तूती बोलती है। अमेरिका ने जो कुछ किया उसके लिये हम उसकी निन्दा नहीं कर सकते। हमारा दुर्भाग्य था कि अमेरिका ने यह सौदा हमसे न करके हमारे दुश्मनों से किया।

पर युद्ध की समाप्ति हो जाने पर अमेरिका ने जो कुछ किया उसका प्रतिवाद किये बिना हम नहीं रह सकते।

---

* "Shall It be Again ?"

राष्ट्रपति विल्सन की "१४ शर्तों" को जर्मन सरकार ने मंजूर कर लिया था। उनमें कई शर्तें उसके लिये बड़ा कड़ी थीं पर उसने फिर भी आपत्ति न की। हमारे शत्रुओं ने भी दो-एक को छोड़ कर बाक़ी शर्तें मंजूर कर ली थीं। विल्सन ने इस बात की गारन्टी दे दी थी कि सन्धि उन्हीं चौदह शर्तों के आधार पर होगी।

पर वर्सेल में जिस सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर हुए उसका आधार विल्सन की घोषणा है, यह कौन कह सकता है? उनकी बातों में जहाँ तक न्याय का अंश था वहाँ तक उनकी बिलकुल अवहेलना की गयी। विल्सन का विश्वास कर जर्मनी ने अपने आपको बेबस कर डाला। अपने हथियार दुश्मनों के हवाले कर दिये और उनकी जितनी ज़मीन कब्ज़े में आ चुकी थी उसे छोड़ दी। आज जर्मनी की जो ऐसी हालत हो रही है उसके कारणों में तीन प्रधान हैं—हम लोगों ने आँख मूँद कर विल्सन का विश्वास कर लिया, सन्धि के समय हमारे शत्रुओं ने विल्सन की १४ शर्तों को ताक़ पर रख दिया, जर्मनी में एक नयी समस्या क्रान्ति की खड़ी हो गयी। टर्नर का तो कहना है कि विल्सन ने जो अपनी १४ शर्तें पेश कीं वह उसकी एक चाल थी। वह चाहता था कि जर्मनी मेरी बातों में आकर अपने हथियार हमारे हवाले कर दे। ज्योंही उसकी मंसा पूरी हो गयी उसने अपनी बातों को एक ओर रख दिया और रुख़ बदल दिया।

अमेरिका में बहुत से लोगों ने विल्सन का साथ देने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि तुमने अपना मुँह काला किया तो किया, तुम्हारे साथ हम अमेरिका का मुँह काला होने

न देंगे। वास्तव में अमेरिका को यह मानना होगा कि उसके राष्ट्रपति ने जर्मनी के साथ विश्वासघात किया और उसे बरबाद कर दिया। जर्मनी में ही नहीं, अन्य देशों में भी लोग यही कहेंगे कि ऐसे मामलों में अमेरिका की बातों का विश्वास नहीं किया जा सकता। यह बहुत बड़ी बदनामी है। लोग इस बात को भूल जायँगे कि विलसन को लायडजार्ज और क्लेमेंशो ने अपने जाल में फँसा लिया और उससे जो चाहा करा लिया। पर जब तक अमेरिका जर्मनी की क्षतिपूर्ति नहीं करता, उसका बोझ हलका कर देने की व्यवस्था नहीं करता तब तक उसका कलंक बना रहेगा।

विलसन ने ही पहले पहल इस बात पर ज़ोर दिया था कि कैसर जर्मनी की गद्दी से हट जायँ। उसने इस बात का इशारा किया था कि अगर ऐसा हुआ तो जर्मनी के साथ सन्धि के समय बहुत कुछ रिआयत की जायगी। बहुत संभव है विलसन पर उस समय तक फ्रान्स का पूरा प्रभाव पड़ चुका था। हमारे चैन्सलर महोदय प्रिन्स मैक्स ने भी यही राग अलापना शुरू कर दिया। पर उनका कर्तव्य था कि विलसन से इस बात की पक्की गैरन्टी ले लेते। मैंने तो सोचा कि उन्होंने ज़रूर कोई ऐसी गैरन्टी ले ली होगी और लोगों की बातों का विश्वास कर आत्म-बलिदान कर दिया। पीछे मालूम हुआ कि असलियत कुछ और ही थी। विलसन ने, या यों कहना चाहिए कि उनकी मार्फत हमारे और शत्रुओं ने, क्यों मेरे हटने पर इतना ज़ोर दिया, यह अब स्पष्ट हो चला है। उन लोगों ने सोचा कि कैसर के हटते ही जर्मनी की अवस्था डाँवाडोल हो जायगी और जो चाहेंगे करा लेंगे। अगर मैं न हटता तो जैसी सन्धि हुई वैसी कभी न होती।

इस विषय में भी विलसन ने जर्मनी के साथ घोर विश्वास-घात किया। लोग इस भ्रम में पड़ गये कि कैसर के पदत्याग से देश का बहुत कुछ मंगल होगा, पर हुआ इसके बिलकुल विपरीत ! हाँ, विलसन पर दोषारोपण करते समय जर्मनी को याद रखना चाहिए कि विलसन के काले कारनामों से अमेरिका की जनता का कोई सरोकार न था।

मेरे राजनैतिक सिद्धान्त क्या थे, यह मैं थोड़े में यहाँ बताता हूँ। मेरा उद्देश केवल यह दिखाना है कि समराग्नि प्रज्ज्वलित करने के विषय में जर्मनी सर्वथा निर्दोष है।

गद्दी पर बैठते ही मैंने देखा कि विभिन्न राष्ट्रों में बहुत कुछ मतभेद है। ईर्ष्या-द्वेष भी उसी प्रकार बढ़ा चढ़ा था। मैंने आरंभ से ही अपनी यह नीति रक्खी कि जहाँ तक हो सके सबसे मिलजुल कर रहना चाहिए और व्यर्थ किसीसे झगड़ा मोल न लेना चाहिए। शान्ति-रक्षा जर्मनी की राजनीति का मुख्य उद्देश बन गयी। इसी कारण जर्मनी ने जानबूझ कर अपनी सेना उतनी बड़ी न रक्खी जितनी बड़ी वह रख सकता था, और जितनी बड़ी उसे रखना चाहिए था। जब जर्मनी के शत्रुओं की नीति स्पष्ट हो चली और कूटनीति ने उसे चारों ओर से घेर लिया तब उसे अपनी रक्षा की पूरी तैयारी करना उचित था। पर वह तो अपनी ही चाल चलता रहा।

इस समय हमारी हालत जो इतनी ख़राब हो रही है उसका कारण यह नहीं कि हम दुनिया को ललकारने चले थे या हम मदान्ध हो रहे थे, जैसा कि हमारे दुश्मन हम पर इल्ज़ाम लगाते

हैं, बल्कि यह कि हमने दूसरों का अन्धविश्वास कर, शान्ति-रक्षा की वेदी पर अपने हित का बलिदान कर दिया।

लड़ाई के कई अच्छे मौक़े आये, पर हमने एक से भी फ़ायदा न उठाया।

जिस समय रूस और जापान लड़ रहे थे उस समय हम पूरे तटस्थ बने रहे और जहाँ तक बन पड़ा रूस की सहायता ही की।

बोअर युद्ध के समय हम चाहते तो इँगलैंड या फ्रान्स पर हमला कर सकते थे। पर हमने ऐसा नहीं किया!

जिस समय रूस जापान से लड़ रहा था उस समय हम रूस ही नहीं फ्रान्स पर भी धावा बोल सकते थे। पर हमने शांन्ति भंग नहीं की।

और भी कई अवसरों पर हम फ्रान्स से लोहा ले सकते थे, पर हमने अपना रास्ता न छोड़ा।

हम यह नहीं कहते कि हमने भूल नहीं की। हमसे एक नहीं अनेक भूलें हुईं, पर इसी कारण कि हमें शान्ति भंग न होने देने की बेहद फ़िक्र रहती थी। ऐसी भूलों के लिये हम दण्डनीय नहीं हो सकते।

जिस समय लड़ाई छिड़ी उस समय जर्मनी के चैन्सलर बेथमैन हालवेग थे। उनसे कई भद्दी भूलें हुईं—कहना चाहिए कि उस समय जैसे कर्णधार की आवश्यकता थी वैसे वह न थे—पर शान्ति के वह भी पूरे पक्षपाती थे और अन्तिम घड़ी तक इँगलैंड को समझाने-बुझाने की चेष्टा करते रहे!

लंदन में हमारे राजदूत प्रिन्स लिकनोस्की थे। उनके वहाँ

जाने के कुछ ही दिन बाद सम्राट् जार्ज ने उनका आतिथ्य स्वीकार कर उनके साथ भोजन किया। लंदन के कुलीन समाज में सम्राट् के इस उदाहरण का अनुकरण होने लगा। बड़े से बड़े घराने में प्रिन्स लिकनोस्की सस्त्रीक निमंत्रित किये जाते और हर जगह उनका बड़ा आदर-सत्कार होता। इससे आपने यह निष्कर्ष निकाला कि इँगलैंड का दृष्टिकोण बदल चला है, वह जर्मनी से मित्रता करने की ओर अग्रसर हो रहा है। उनकी आँखें तब खुलीं जब लड़ाई से कुछ ही दिन पहले सर एडवर्ड ग्रे ने उनसे कहा कि सामाजिक बातें और हैं, राजनैतिक और—आप दोनों को एक न समझें !

अंगरेज़ और जर्मन इस विषय में कितने विभिन्न हैं ! जर्मन दिल का साफ होता है, भीतर कुछ और बाहर कुछ और यह बात उसमें नहीं पायी जाती। इसी लिये हमारे राजदूत ने यह समझ लिया कि जब हमारी इतनी आवभगत हो रही है, हमारे साथ ऐसा अच्छा सामाजिक व्यवहार हो रहा है तब ज़रूर इन लोगों के राजनैतिक भाव में भी परिवर्तन हो चला होगा।

अंगरेज़ अपनी नीति कुछ और रखता है और बाहर से अपना भाव और प्रदर्शित करता है। जो लोग उसे पूरी तरह नहीं पहचानते वे धोखा खा जाते हैं और समझ लेते हैं कि इसका बाहर भीतर समान होगा। प्रिन्स लिकनोस्की की भी यही दशा हुई।

जर्मनी का विश्वास था कि हम शान्ति-रक्षा के द्वारा संसार में ऊँचा से ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकते हैं; युद्ध से उसे लाभ ही क्या हो सकता था ?

मैं व्यक्तिगत कारणों से भी युद्ध का विरोधी था। मैंने अपने पितामह के मुँह सुन रक्खा था कि १८७० और १८७१ की लड़ाइयों में कैसी भीषण मारकाट, खूनखराबी हुई थी और मेरी यह हार्दिक इच्छा थी कि जर्मन जाति, नहीं सारे सभ्य संसार को, वैसी परिस्थिति से कभी गुज़रना न पड़े। फील्ड मार्शल माल्टके के शब्द मुझे बराबर याद रहते थे:—'यूरोप में आग लगाने वाले का कभी भला न होगा'! बिस्मार्क की बात को भी मैं कभी न भूल सका कि जहाँ तक संभव हो जर्मनी को लड़ाई से दूर रहना चाहिए।

राष्ट्रीय नीति, व्यक्तिगत विचार, हमारे देश के ऐसे दो महापुरुषों के आदेश—सभी शान्ति के पक्ष में थे। सबके ऊपर जर्मन जाति की यह आकांक्षा थी कि हम वाणिज्य-व्यवसाय के द्वारा शान्तिमय उपायों से अपनी उन्नति करें, किसी लड़ाई झगड़े में न पड़ें।

यह कहना सरासर ग़लत है, सफेद झूठ है कि जर्मनी की नीति के संचालक उस दल के लोग थे जो बात बात में तलवार की दुहाई दिया करता था। प्रत्येक देश में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो विभिन्न कारणों से बात बात में तलवार का नाम लिया करते हैं। पर जर्मनी की राजनीति पर इन लोगों का प्रभाव कभी न पड़ा, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ।

हमारी सेना के उच्चपदाधिकारियों को लाञ्छित करने की भी बड़ी चेष्टायें की गयी हैं। कहा गया है कि वे दिन-रात इसी कोशिश में थे कि किसी प्रकार लड़ाई छिड़ जाय। यह भी असत्य है। हमारे अफ़सर देशभक्त और राजभक्त ज़रूर थे—

उन्होंने अपनी मातृभूमि के चरणों पर अपनी सारी विद्याबुद्धि, शक्ति और योग्यता अवश्य समर्पित कर दी थी, पर राजनीति से उन्होंने कभी कोई सम्पर्क न रक्खा। आज यह कहा जा सकता है कि अगर वे जर्मनी की पर-राष्ट्र-नीति से थोड़ा बहुत संबन्ध रखते तो देश के लिये अच्छा ही होता।

वर्सेल की सन्धि जिस बुनियाद पर हुई उसमें असलियत कुछ भी नहीं है। निर्दोष होते हुए भी जर्मनी दोषी ठहराया गया और उस दोष का दण्ड उसे सन्धिपत्र की शर्तों के रूप में मिला। इसके लिये इँगलैंड ने बहुत पहले से संसार भर में 'प्रोपेगैंडा' या प्रचार कर रक्खा था। जर्मनी को लाञ्छित और कलंकित करने के लिये झूठी से झूठी बातें गढ़ के तमाम फैलायी गयीं। उनके हथियारों से बढ़ कर काम उनके इस प्रोपेगैंडा ने किया।

हम जर्मन सीधे-सादे होते हैं। हमें चालबाजी नहीं आती। हम सच बोलना और लड़ना जानते हैं, पर हमें झूठ का प्रोपेगैंडा या प्रचार करना नहीं आता। जैसे अंगरेज़ों के 'टैंक' नामक अस्त्र का जवाब देने के लिये हमारे पास कुछ भी न था, उसी प्रकार उनके प्रोपेगैंडा का भी हम कोई जवाब न दे सकते थे। आज भी हमारे विरुद्ध उनका प्रोपेगैंडा बन्द नहीं है। कलम की चोट पर चोट हम पर होती ही जा रही है, हम अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिये अपनी सफाई देते ही जा रहे हैं। वास्तव में अगर हमारे शत्रुओं ने अपने प्रोपेगैंडा द्वारा संसार की सहानुभूति अपनी ओर न कर ली होती—जर्मनी को इतना बदनाम न कर दिया होता—तो वर्सेल की सन्धि वैसी कभी न होती।

पर समय बदल चला है, लोगों के बीच की दीवारें एक एक कर टूटती जा रही हैं, सब के सब अच्छी तरह समझने लगे हैं कि किस प्रकार उनको धोखा दिया गया, उनकी सहानुभूति या सहायता का दुरुपयोग किया गया। वर्सेल की सन्धि के विधाताओं के लिये इसका फल अच्छा न होगा।

शत्रुओं के दल में शायद ही कोई राजनीतिज्ञ या उच्चपदाधिकारी ऐसा हो जिसकी दृष्टि में युद्ध के लिये दोषी जर्मनी ठहरे। सभी जानते हैं कि बात क्या थी; और मन ही मन इस बात पर सभी हँसते हैं कि जर्मनी को तहस नहस कर और फिर उसके माथे सारा दोष मढ़ कर सबने अपना अपना मतलब पूरा किया। पर यह हँसी अधिक काल के लिये नहीं है। सत्य आप ही आप प्रकट हो जायगा और जर्मनी आज अपने जिन अधिकारों से वञ्चित है वे उसे प्राप्त हो जायँगे।

एक प्रकार से तो वर्सेल का सन्धिपत्र पहले ही रद्दी की टोकरी में फेंका जा चुका है। कारण यह कि न तो जर्मनी से ही उसकी शर्तों की पाबन्दी हो सकती है न हमारे शत्रुओं से ही।

संसार इतना आगे बढ़ गया है, उसके विभिन्न अंग आपस में इस तरह सम्बद्ध हो गये हैं कि एक के लिये दूसरा आवश्यक, अनिवार्य्य हो गया है, कोई दूसरे से यह नहीं कह सकता कि हमारा काम तुम्हारे बिना चल जायगा। एक देश को दूसरे की जरूरत है, परस्पर के सहयोग और सद्भाव में ही सबका कल्याण है। पर वर्सेल के सन्धिपत्र में इस बात का बिलकुल ध्यान न रक्खा गया। वहाँ तो दो-तीन राष्ट्र सारे संसार के भाग्यविधाता बन कर बैठ गये और उसका भविष्य निर्द्धारित करने लगे।

उनका ख़याल था कि सन्धिपत्र में जो 'पैराग्राफ' स्थान पा जायँगे उन्हींका बोलवाला रहेगा और उनके खिलाफ़ कुछ न हो सकेगा। पर समय-सरित् के प्रवाह को ऐसे 'पैराग्राफ' या पंक्तियाँ कभी नहीं रोक सकतीं। जैसे जर्मनी को और देशों की ज़रूरत है वैसे ही उनको भी जर्मनी की ज़रूरत है। जर्मनी को दुखी बना के वे आप सुख की नींद नहीं सो सकते। यही कारण है कि वर्सेल का सन्धिपत्र सभी के लिये हानिकारक सिद्ध हो रहा है और संसार की आँखें खुलती जा रही हैं।

अगर इस युद्ध में हमारी विजय होती तो हमारी शर्तें और ही तरह की होतीं। हमारे साथ जो सन्धि होती वह न्याय के आधार पर होती और इस लिये उसकी जड़ मज़बूत होती।

जो कुछ हो, वर्सेल के सन्धिपत्र के अक्षर आप ही आप मिटने लगे हैं और जो बाकी हैं वे संसार की आधुनिक आवश्यकताओं के आगे शीघ्र ही मिट जायँगे। विजित और विजेता दोनों को ही उन आवश्यकताओं के सामने सिर झुकाना पड़ेगा और उनके आदेश का पालन करना होगा।

जर्मनी आज मुसीबतों के बोझ से दबा हुआ है, पर उसके दिन ज़रूर फिरेंगे, उसका भाग्य फिर चमकेगा। जब वह दिन आवेगा तब हम फिर जर्मन होने का अभिमान करेंगे और इसकी खुशी मनायेंगे।

नवाँ अध्याय

जर्मनी का भविष्य

मैं इस बात की परवा नहीं करता कि मेरे दुश्मन मेरे बारे में क्या कहते हैं। मैं उन्हें कभी अपना जज नहीं मान सकता। जब मैं देखता हूँ कि जो लोग कल मेरी आरती उतारते थे, आज वे मुझे गालियाँ देते फिरते हैं तब मुझे उन पर दया हो आती है। मेरे दिल पर चोट तब लगती है जब मैं अपने देशवासियों के मुँह अपनी निन्दा सुनता हूँ। परमात्मा इस बात का साक्षी है कि मैंने सदा अपने देश और अपनी जाति का भला मनाया। मैंने बराबर ईश्वर के आदेशों के अनुसार चलने की चेष्टा की। बहुत सी बातें मेरी इच्छा के प्रतिकूल हो गयीं, पर मेरा दिल पाक और साफ़ है, मैंने जो कुछ किया जर्मन जाति और जर्मन साम्राज्य की भलाई के लिये।

मुझ पर जो कुछ बीती उसके लिये मैं किसीको कोसना नहीं चाहता। परमात्मा की ऐसी ही मर्ज़ी थी। मेरी ऐसी कड़ी परीक्षा क्यों ली जा रही है यह वही जानता है। उसकी ओर से जो कुछ मिलेगा मैं चुपचाप ग्रहण करता जाऊँगा।

मुझे रुलाई आती है अपने देश की दुर्दशा देखकर। मेरी छाती को रह रहकर छेदनेवाली कोई बात है तो यह कि मैं अपने भाइयों के ग़म में उनके पास नहीं हूँ। यहाँ एकान्त में मेरा एक एक पल इसी चिन्ता में बीतता है कि मेरे देशवासियों पर कैसी

मुसीबत आ पड़ी है और इस गाढ़े समय में मैं उनके क्या काम आ सकता हूँ !

कोई मेरी निन्दा करे या स्तुति, मेरे हृदय से तो जाति-प्रेम जाने का नहीं। मैं अपने मुल्क का वफ़ादार था, हूँ और रहूँगा। जो जर्मन इस दुर्दिन में भी मेरा साथ दे रहे हैं उनका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उनसे मुझे बहुत कुछ आश्वासन मिलता है। जो जर्मन सच्चे हृदय से मेरा विरोध करते हैं, मैं उनकी इज्ज़त करता हूँ। बाक़ी लोगों के लिये परमात्मा है, उनका अपना हृदय है और इतिहासकार का फ़ैसला है।

कोई कुछ करे या कहे, अपनी जाति, अपने देश से मेरा सम्बन्ध अटूट रहेगा। मेरे लिये सभी जर्मन एक से हैं। १ अगस्त, १९१४ को मैंने जर्मन पार्लमेंट का अधिवेशन आरंभ होने के अवसर पर कहा था:—"मैं अब विभिन्न दलों को नहीं, केवल जर्मन जाति को जानता हूँ।" आज भी मेरी वही नीति है।

क्रान्ति के कारण मेरी सहधर्मिणी का हृदय भग्न हो गया। नवंबर, १९१८ के बाद से उनकी कमज़ोरी बढ़ती गयी, उनका स्वास्थ्य बिगड़ता गया। अपने देश और जाति से अलग रहने का दुःख उनके लिये असह्य हो गया।

क्रान्ति ने देश की बड़ी हानि की। जिस समय युद्ध समाप्त होने पर था और देश की बची-खुची सारी शक्ति को रचनात्मक कार्य्य में लगाने की ज़रूरत थी ठीक उसी समय इस क्रान्ति ने एक नयी और भयङ्कर समस्या खड़ी कर दी।

मुझे मालूम है कि साम्यवादियों में कितने ही ऐसे थे जो क्रान्ति के पक्षपाती न थे। कई नेता ऐसे थे जो कम से कम उस

समय क्रान्ति नहीं चाहते थे। कई तो मेरे साथ सहयोग करने को तैयार थे। पर इनका इतना दोष ज़रूर है कि ये क्रान्ति को रोक न सके। क्रान्तिकारियों पर इनका प्रभाव ज्यादा पड़ सकता था, फिर भी इनसे कुछ न वन पड़ा।

साम्यवादी पहले से ही क्रान्ति की पुकार मचाते आ रहे थे। जर्मनी में जो शासन-प्रणाली थी उसका वे खुल्लमखुल्ला विरोध किया करते थे और इस बात के लिये लालायित थे कि वहाँ प्रजातंत्र स्थापित हो जाय। उन्हें अन्त में अपने किये का ही फल भोगना पड़ा।

उनके कई नेताओं को यह बात पसन्द न थी कि क्रान्ति ऐसे समय में और ऐसे रूप में हो। पर जब लहर फैल चली तब वे परिस्थिति को सँभाल न सके और उनके हाथ से नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में चला गया जो उद्दण्डता और उच्छृङ्खलता की मूर्ति थे।

प्रिन्स मैक्स और उनके सहकारियों का कर्तव्य था कि पुरानी शासन-प्रणाली का समर्थन करते। पर उनसे यह न हो सका। बात यह थी कि वे सब के सब साम्यवादी नेताओं का मुँह ताकने लगे थे और साम्यवादी नेताओं का प्रभाव जनता में नहीं के बराबर रह गया था। ये तो पहले ही अपनी गद्दी क्रान्तिकारियों को दे चुके थे।

जर्मनी की बरबादी के लिये इतिहास दोषी ठहरायेगा उन नेताओं को जिन्होंने या तो क्रान्ति में भाग लिया या जो उसे रोक न सके। उनके साथ ही प्रिन्स मैक्स और उनके सहकारी भी दोषी ठहराये जायँगे।

जर्मन मजूरों ने लड़ाई में खासा भाग लिया और लड़ाई की सामग्री जुटाने में भी जी-जान से लगे रहे। अन्त में उनमें से कुछ खराब रास्ते पर जाने लगे, पर इसके लिये दोषी थे तो देश-द्रोही क्रान्तिकारी, न कि देशप्रेमी भोलेभाले मजूर और किसान!

जर्मनी के लिये वर्त्तमान समय बड़े संकट का है। पर मुझे उसके समुज्वल भविष्य के विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है। जिस जाति ने १८७१ और १९१४ के बीच ऐसी आश्चर्य्यजनक उन्नति कर ली, जिसने साढ़े चार बरस तक आत्म-रक्षा के लिये अट्ठाईस राष्ट्रों का सामना किया उसकी हस्ती किसीके मिटाये मिट नहीं सकती। फिर हमारी उपयोगिता इतनी बढ़ गयी है कि बिना हमारे संसार का काम चल नहीं सकता।

पर अपनी खोयी हुई चीज़ को हासिल करने में हमें बाहरी सहायता की आशा न करनी चाहिए। हमें ऐसी सहायता कभी नहीं मिल सकती। जर्मन साम्यवादियों ने आशा की थी कि बाहर से मदद मिलेगी, पर यह पूरी न हो सकी। साम्यवादियों की अन्तर्राष्ट्रीयता बस खयाली पुलाव साबित हुई है। हमारे शत्रुओं के यहाँ राष्ट्रीयता पर ज़ोर दिया गया, इसलिये वहाँ के मजूरों को ऐसी कामयाबी हासिल हुई। हमारे यहाँ अन्तर्राष्ट्रीयता की दुहाई दी गयी, इसलिये हमारे मजूरों को धोखा खाना पड़ा।

जर्मन जाति को स्वावलम्बी होना चाहिए और केवल अपना भरोसा करना चाहिए। राष्ट्रीयता ही हमें मुक्ति दिलानेवाली है, इसलिये हमें किसी प्रकार के मृगजल के पीछे न दौड़कर इसकी आराधना करनी चाहिए। इँगलैंड, फ्रान्स यहाँ तक कि पोलैंड भी आज राष्ट्रीयता के ही बल पर उछलकूद रहे हैं। सारे भेदभाव

को भुलाकर हमें राष्ट्रीय संगठन करना होगा, जनता में राष्ट्रीय भाव भरना होगा; तभी हम सच्चे जर्मन कहला सकेंगे और अपने लुप्त गौरव को फिर से प्राप्त कर सकेंगे।

जर्मन जैसी श्रमशील जाति संसार में दूसरी नहीं है। समय आने वाला है जब अपने इस गुण के बल पर जर्मनी फिर प्रतियोगिता में सब से आगे बढ़ जायगा और कला, विज्ञान, वाणिज्य-व्यवसाय में, अपने परिश्रम और प्रतिभा से, अजित को जीत कर, असंभव को संभव कर, सब कुछ संसार के लाभ के लिये समर्पित कर देगा।

वर्सेल की सन्धि अन्यायमूलक है, वह कभी ठहरने की नहीं। जर्मनी ही नहीं और देशों में भी जो समझदार लोग हैं उसका विरोध किये बिना न रहेंगे। और लोकमत जाग्रत होने पर अन्याय और असत्य बात की बात में सिंहासन-च्युत हो जायँगे।

जर्मनी, संसार में, शान्ति की उपासना करता हुआ, जो महत्वपूर्ण कार्य करने चला था उसमें महासमर के कारण बाधा पड़ गयी। पर जर्मन जाति की गुणगरिमा को मैं अच्छी तरह जानता हूँ और मेरा विश्वास है कि उसका कार्य्य कभी अधूरा न रहेगा—

"जो हँस रहा है वह हँस चुकेगा
जो रो रहा है वह रो चुकेगा
× × × ×
खिलेंगे कुछ कुदरती शिगूफे
जब अपने काँटे वह बो चुकेगा"!

परिशिष्ट

कैसर की रामकहानी में कुछ बातें ऐसी हैं जिनके स्पष्टीकरण के लिये कुछ और कहने की आवश्यकता है।

सबसे पहिले जर्मनी की शासन-प्रणाली के विषय में—

<u>जर्मन शासन-प्रणाली</u>:—फ्रांस और प्रशिया के बीच १८७०-७१ में जो युद्ध हुआ उसके फलस्वरूप जर्मनी के विभिन्न अंगों की एकता पूरी हो गयी और जर्मन साम्राज्य का जन्मोत्सव १८ जनवरी १८७१ को वर्सेल के उसी महल में मनाया गया जहाँ प्रायः पचास बरस बाद उसके दुश्मन उसे दफ़नाने वाले थे। जर्मन साम्राज्य में छोटे-बड़े सब मिलाकर २६ राज्य थे। सबमें प्रधानता प्रशिया की थी। उस समय जर्मनी की आबादी का सैकड़े ६० भाग प्रशिया का निवासी था। उसका विस्तार इतना बड़ा था कि बाकी सारा देश उसकी एक तिहाई के बराबर था। फिर उसकी तलवार में ज़ोर भी मामूली न था। ऐसी अवस्था में प्रशिया के राजा का जर्मन सम्राट् बन जाना कुछ आश्चर्यजनक न था।

क़ानून की दृष्टि में सम्राट् का अर्थ था जर्मन राज्यों के संघ का सभापति और सर्व्वोच्च पदाधिकारी, पर असलियत में उसके अधिकारों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न था। जर्मनी के नये संघटन के अनुसार सम्राट् सर्वेसर्वा बन गया। वह जो चाहता कर सकता था, कोई मीनमेख करनेवाला न था।

व्यवस्था यह थी कि प्रशिया का राजा बराबर जर्मनी का सम्राट् हुआ करेगा, इसलिये न तो वह संघ के निर्णय से गद्दी पर बैठता था, न उसके निर्णय से गद्दी छोड़ सकता था।

पार्लमेंट की दो सभायें थीं—Bundesrat (राज्यसभा) और Reichstag (जन-प्रतिनिधि-सभा)। दोनों में विशेष अधिकार राज्यसभा को ही प्राप्त थे और उसमें प्रशिया की सरकार अर्थात् वहाँ का राजा जो चाहता पास करा सकता था। सम्राट् के आदेश से ही इन सभाओं की बैठकें होतीं, इनके अधिवेशन स्थगित होते और इनका विसर्ज्जन होता। राज्य-सभा की स्वीकृति से वह चाहता तो जन-प्रतिनिधि-सभा को तोड़ सकता था। राज्य-सभा के सदस्य अपनी अपनी प्रान्तीय सरकार के इच्छानुसार ही वोट दे सकते थे। इनकी संख्या ६० के लगभग थी जिनमें १७ प्रशिया के प्रतिनिधि थे। विधान यह था कि अगर शासन-प्रणाली के संशोधन से संबन्ध रखनेवाला कोई प्रस्ताव पेश हो और उसके विरुद्ध १४ वोट भी पड़ें तो वह रद्द समझा जाय। प्रशिया के प्रतिनिधियों की संख्या १७ थी। इस लिये कोई भी ऐसा संशोधन जो प्रशिया को अर्थात् जर्मन सम्राट् को अस्वीकार होता कभी राज्य-सभा द्वारा पास न हो सकता था। जन-प्रतिनिधि-सभा, और देशों की तुलना में, अधिकारहीन थी। १९१७ में इसके मेंबरों की संख्या ३९७ थी जिनमें २३५ प्रशिया की प्रजा द्वारा निर्वाचित थे। इसे स्वतंत्रतापूर्वक अपना मत प्रकट करने, राज्य-सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों में संशोधन करने या उन्हें अस्वीकृत कर देने, बजट को मानने न मानने का अधिकार अवश्य था—पर मुख्य बात यह थी कि मंत्रिमंडल

इसके अधीन न था और हार हो जाने पर भी सरकार जहाँ की तहाँ बनी रहती थी। आय और व्यय से संबन्ध रखनेवाले विधान ऐसे थे कि जनता के प्रतिनिधि उनमें ज्यादा हेरफेर न कर सकते थे। उदाहरण के लिये, सेना-विभाग के खर्च की मंजूरी कई सालों के लिये होती थी। इस लिये उन्हें यह अधिकार भी न था कि जिस साल चाहें उसे नामंजूर कर दें। शासन का कुछ नियन्त्रण इसके द्वारा अवश्य होता था और कोई भी क़ानून पास करने के लिये इसकी स्वीकृति लेनी ही पड़ती थी, पर शासन-प्रणाली उत्तरदायित्व-पूर्ण न होने के कारण मंत्रिमंडल या सरकार को यह चिन्ता न रहती थी कि बहुमत विरुद्ध हो गया तो हमें हटना होगा। वास्तव में यह जर्मनी की शासन-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष था। प्रस्तुत पुस्तक में पार्लमेंट शब्द का व्यवहार जन-प्रतिनिधि-सभा के लिये ही किया गया है।

शासन की बागडोर जिस पदाधिकारी के हाथ में रहती थी उसको चैन्सलर कहते थे। उसको नियुक्त करने और हटाने का एकमात्र अधिकारी सम्राट् था। चैन्सलर शासन के क्षेत्र में सम्राट् का प्रतिनिधि था और सम्राट् को जो कुछ करना होता उसीकी मार्फत कराता था। पार्लमेंट में उसे सरकारी काररवाइयों की सफ़ाई ज़रूर देनी पड़ती थी और साम्यवादी या दूसरे समालोचक जो कुछ सुनाते उसे सुनना पड़ता था। पर उसके अधिकार ऐसे थे कि वह बहुमत को ठुकरा के भी अपने आसन पर डटा रहता था। बिस्मार्क के समय में सम्राट् भी चैन्सलर से दब गया था। पर उसके बाद कैसर के शासन-काल में—उसकी कुर्सी पर बैठने वाले जितने हुए सबके सब सम्राट् के हाथों की कठपुतली

निकले। स्वतंत्र प्रकृति के चैन्सलर के लिये इनके समय में कहीं स्थान ही न था।

इस शासन-प्रणाली का अन्त १९१८ की क्रांति से हुआ। उसीके कारण कैसर को सब कुछ छोड़ कर विदेश में शरण लेनी पड़ी और आज जर्मनी में प्रजातंत्र स्थापित है।

<u>जर्मनी की क्रान्ति</u>—७ नवंबर १९१८ को कील में बग़ावत शुरू हुई। बाग़ियों ने बहुत से जंगी जहाज़ों पर कब्ज़ा कर लिया और उन पर लाल झंडे फहराने लगे। फिर यह लहर बात की बात में चारों ओर फैल चली और प्रत्येक बड़े नगर से रिपोर्ट आने लगी कि सरकार के पैर उखड़ते जा रहे हैं। ९ नवंबर को बेतार के तार से दुनिया को यह ख़बर मिली कि जर्मनी के सम्राट् ने सिंहासन त्याग दिया और उनके पुत्र भी अपने सारे अधिकारों से बाज़ आये। साथ ही यह सूचना थी कि साम्यवादी एबर्ट चैन्सलर बनाये गये हैं और शीघ्र ही जर्मन जनता के प्रतिनिधि इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एकत्र होंगे कि जर्मनी की शासन-प्रणाली अब आगे किस प्रकार की होनी चाहिये? १० नवंबर का तार था कि क्रान्ति की आग अभी फैलती ही जा रही है। दूसरे दिन ११ नवंबर १९१८, सोमवार को समाचार मिला कि जर्मनी की ओर से शर्तें मंजूर कर ली गयी थीं, इसलिये ग्यारह बजे दिन को लड़ाई बन्द हो जायगी। साथ ही पत्रों में यह भी पढ़ने में आया कि कैसर हवागाड़ी में बैठ हालैंड की ओर भाग गये।

जर्मनी के अन्तिम इम्पीरियल (शाही) चैन्सलर प्रिन्स मैक्स या मैक्सीमिलियन थे। ९ नवंबर को उन्होंने यह घोषणा

की कि कैसर पदत्याग कर चुके। उसी दिन बैबेरिया की राज-धानी में प्रजातंत्र की स्थापना हो गयी और उसी दिन बर्लिन के कुछ साम्यवादियों ने प्रिन्स मैक्स से कहा कि आप हटिये, अब हुकूमत हम लोग करेंगे। मैक्स ने निरुपाय होकर उनकी बात मान ली और बर्लिन में साम्यवादियों का बोलबाला हो गया। फ्रेडरिक एबर्ट नाम का यहूदी साम्यवादियों का नेता था। वही चैन्सलर बना और जिस महल में प्रिन्स मैक्स रहते थे उस पर फ़ौरन कब्ज़ा कर लिया। पर दूसरे ही दिन बर्लिन में मजूरों और सिपाहियों की एक बड़ी सभा हुई जिसमें प्राचीन शासन-प्रणाली का घोर विरोध किया गया और एबर्ट को भी यह प्रत्यक्ष हो गया कि शक्ति का केन्द्र और ही जगह चला गया था !

जर्मनी में कई बरसों से साम्यवादियों का अच्छा प्रभाव था, पर दलबन्दी के कारण उनमें एकता न थी। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि लड़ाई के समय में इनके दो दल थे। एक तो सरकार के पक्ष में था, दूसरा विरुद्ध। क्रान्ति के समय दोनों मिल गये और दोनों के सहयोग से शासन-कार्य्य होने लगा। पर कुछ साम्यवादी ऐसे निकल पड़े जो इनके भी विरोधी थे ! वे जर्मनी में शीघ्र से शीघ्र सोवियट शासन-प्रणाली स्थापित करना चाहते थे। एबर्ट और उसके पक्षपाती इसके लिये अभी तैयार न थे। उनका कहना था कि पहले देश में शान्ति हो जाय, फिर साम्यवाद के आधार पर समाज का नये सिरे से संगठन किया जायगा। विरोधी कहते थे कि नहीं, श्रमजीवियों को यह मौका हाथ से न जाने देना चाहिए और चाहे जैसे हो अन्य श्रेणीवालों को मैदान से हटाकर फौरन हुकूमत शुरू कर देनी

चाहिए। एबर्ट की पार्टी कमज़ोर थी, इसलिये नयी सरकार से प्रायः एक महीने तक कुछ न बन पड़ा। विरोधियों ने बड़ा उत्पात मचा दिया और जगह जगह दंगे-फ़साद होने लगे। बर्लिन में भी कम खून-खराबी न हुई। अन्त में विरोधियों के नेता गोलियों के शिकार हुए और बोल्शेविज्म की लहर जर्मनी में न फैल सकी। उसके बाद की घटनाओं का इस पुस्तक से कोई संबन्ध नहीं। कैसर ने जो कई जगह कहा है कि मेरे हट जाने पर भी जर्मनी में शान्ति न हो सकी और रक्तपात होके ही रहा, वह इन्हीं लड़ाई-झगड़ों के विषय में।

पीत आतंकः—अंगरेज़ी में इसे Yellow Peril कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पीली जातियों से गोरी जातियों को सावधान रहना चाहिए, क्योंकि जापान, चीन आदि देशों का बलविस्तार होता गया तो यूरोपवाले कहीं के न रहेंगे। संसार को अगर खतरा है तो गोरी जातियों से, इस लिये 'पीत आतंक' के बजाय़ 'श्वेत आतंक' की चर्चा होनी चाहिए। जब रूस को जापान ने चित कर दिया तब पश्चिमवालों ने यह राग अलापना शुरू किया कि मंगोल जाति के उत्कर्ष को यूरोप के लिये ख़तरनाक समझना चाहिए।

रूस के ज़ारः—बोल्शेविकों के हाथ जिसकी जान गयी वह ज़ार निकोलस (द्वितीय) था। कैसर ने इसकी कमज़ोरी की बड़ी शिकायत की है। रूस में १८२५ से १८५५ तक प्रथम निकोलस ने राज्य किया। उसके बाद उसका पुत्र द्वितीय अलेक्ज़ैन्डर गद्दी पर बैठा। इसका शासन-काल १८८१ तक रहा। उस साल १३ मार्च को वह किसी क्रान्तिकारी द्वारा फेंके गये

बम से मारा गया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र तृतीय अलेक्ज़ेन्डर हुआ (पुस्तक में ११ वें पृष्ठ पर भूल से 'द्वितीय' छप गया है, वहाँ 'तृतीय' से ही मतलब है)। तृतीय अलेक्ज़ैन्डर की १८९४ में मृत्यु हो गयी और रूस का ज़ार उसका लड़का द्वितीय निकोलस हुआ।

हर बालिनः—५७ वें पृष्ठ पर कैसर ने हर बालिन के अपने पास आने और सर अर्नस्ट कैसेल के बर्लिन पहुँचने की सूचना देने का ज़िक्र किया है। बालिन जर्मनी के वाणिज्य-व्यवसाय के इतिहास में बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। उनका संबन्ध जहाज़ी कंपनियों से था और Hamburg-America Line नाम की विश्वविख्यात कंपनी की सफलता का श्रेय उन्हीं को प्राप्त था। वह जाति के यहूदी थे और उनका जन्मस्थान हैम्बर्ग नामक नगर था। १८९१ में उनका कैसर से परिचय हुआ और धीरे धीरे यह परिचय मैत्री में परिणत हो चला। ९ नवंबर १९१८ को बालिन की, प्रायः ६० वर्ष की अवस्था में, मृत्यु हुई—सर अर्नस्ट कैसेल भी जर्मन यहूदी थे, पर युवावस्था में ही इँगलैंड में जा बसे थे और वहाँ व्यवसाय में बड़ी सफलता प्राप्त की थी। सप्तम एडवर्ड के अन्तरंग मित्रों में थे और उन्हीं की राय से ब्रिटिश मंत्रिमंडल द्वारा बर्लिन भेजे गये थे।

महासमरः—२८ जून, १९१४ को, बोसनिया की राजधानी साराजेवो में आस्ट्रिया के राजकुमार सस्त्रीक मार डाले गये। आततायी जाति के सर्वियन थे, इस लिये आस्ट्रिया ने सर्विया पर दोषारोपण करते हुए उसे क्षतिपूर्ति करने को कहा।

यह २३ जुलाई की बात है। सर्बिया में कुछ दिनों से आस्ट्रिया के विरुद्ध ज़ोरों से आन्दोलन चल रहा था और आस्ट्रिया की सरकार का कहना था कि इस हत्या के लिये जो षड्यंत्र रचा गया था उसमें विशेष भाग लेने वाले सर्बिया के कुछ उच्च पदाधिकारी थे। आस्ट्रिया के इसी 'अल्टीमेटम' का उल्लेख कैसर ने ८१ वें पृष्ठ पर किया है। इसमें सर्बिया को यह धमकी दी गयी थी कि अगर ४८ घंटे बीतते बीतते सन्तोषजनक उत्तर न मिला तो युद्ध छिड़ जायगा। सर्बिया को रूस का बल था और रूस का इशारा पाकर उसने आस्ट्रिया की शर्तों को कबूल करने से इन्कार कर दिया। आस्ट्रिया और जर्मनी एक दूसरे के मददगार थे। जर्मनी का कहना था कि यह झगड़ा आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच है, इसमें किसी तीसरे को बोलने का कुछ अधिकार नहीं है। पर रूस को यह मंजूर न हुआ। इसके बाद की घटनाओं का क्रम बताना कठिन काम है। रूस में कूच का डंका बजा। इस पर जर्मनी ने कहा कि हम चुपचाप नहीं बैठ सकते। फ्रान्स और रूस के बीच पहले से ही सन्धि हो चुकी थी कि ऐसे अवसर पर एक दूसरे का साथ देगा। इँगलैंड की ओर से कहा गया था कि हम फ्रान्स की ओर से लड़ने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध नहीं हैं, पर वास्तव में इन दोनों के बीच ऐसा ही समझौता था। ४ अगस्त को इँगलैंड ने भी युद्ध की घोषणा कर दी—इस प्रकार जहाँ २३ जुलाई को सर्वत्र शान्ति ही शान्ति थी वहाँ ४ अगस्त को इँगलैंड, फ्रान्स, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, सर्बिया और बेल्जियम की सेनायें, संसार के इतिहास के सब से भीषण युद्ध में भाग लेने के लिये, मार्च कर रही थीं। धीरे धीरे और भी

कितने ही देश युद्ध में सम्मिलित हो गये और कैसर के कथनानुसार जर्मनी को अट्ठाईस राष्ट्रों का मुकाबला करना पड़ा।

इसमें सन्देह नहीं कि जर्मनी ने बड़ी धीरता–वीरता दिखायी। उसके सेनापतियों में सबसे प्रसिद्ध हिन्डनबर्ग हुए। २६ अगस्त और १ सितंबर—१९१४ के बीच उन्होंने रूस को ऐसी शिकस्त दी कि सारे संसार में उनकी ख्याति हो गयी। महायुद्ध का पूरा इतिहास दूसरे ग्रंथों में पढ़ने को मिलेगा। १९१७ में अमेरिका के सहायक हो जाने से इंग्लैंड और फ्रान्स की जीत में वहुत कम सन्देह रह गया। उसी साल रूस में क्रान्ति हुई और ज़ार को गद्दी छोड़नी पड़ी। १९१८ के दूसरे वर्षार्द्ध में पहले जर्मनी के सहायकों को, फिर उसको, बुरे दिन देखने पड़े। ३१ अक्टूबर को टरकी ने और ४ नवंबर को आस्ट्रिया-हंगरी ने हार मान कर संधि कर ली। आस्ट्रिया-हंगरी में क्रान्ति हो चली और सारा साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। क्रान्ति की लहर जर्मनी में भी पहुँच चुकी थी और उसके कारण उसकी दुर्दशा हुई यह अन्यत्र बताया जा चुका है। वर्सेल के जिस सन्धिपत्र का कैसर ने प्रतिवाद किया है और जिसमें सचमुच पराजित देशों के प्रति घोर अन्याय किया गया उस पर २८ जून, १९१९ को सव के हस्ताक्षर हुए।

"पद्म-पराग"

[लेखक—पंडित श्रीपद्मसिंहजी शर्म्मा]

इस ग्रन्थमाला के पहले पुष्प के रूप में हमने श्रद्धेय पण्डित श्रीपद्मसिंहजी शर्मा के एक से एक सुन्दर और सुपाठ्य लेखों का संग्रह प्रकाशित किया है। पण्डितजी का नाम इस बात की ग्यारण्टी है कि भाषा और भाव दोनों ही दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य का मस्तक ऊँचा करनेवाला होगा। पण्डितजी की विद्वत्ता और लेखन-शैली के विषय में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। आप हिन्दी-उर्दू, संस्कृत-फारसी के अपूर्व विद्वान् हैं और आपको समालोचक-शिरोमणि कहना कुछ अत्युक्ति नहीं है। विहारी-सतसई की तुलनात्मक समालोचना और टीका लिख कर आप १२००) मंगला प्रसाद पारितोषिक के साथ अक्षय यश प्राप्तकर चुके हैं और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आपको अपना सभापति बना कर आपका यथेष्ट सम्मान कर चुका है।

प्रस्तुत पुस्तक इन्हीं पण्डितजी की ओजस्विनी लेखनी से निकले हुए लेखों का संग्रह है। इसकी पृष्ठ-संख्या ४५० के लग-भग है। पुस्तक सजिल्द है और इसमें आधे दर्जन के करीब प्रासंगिक चित्र हैं। छपाई अच्छे ऐण्टिक कागज़ पर साफ़ और सुथरी हुई है। दाम २॥)

हम आपसे यह पुस्तक पढ़ने का विशेष अनुरोध इस कारण करते हैं कि—

१—पण्डित पद्मसिंहजी शर्मा सजीव भाषा लिखनेवालों के अग्रणी हैं। उनकी लेखन-शैली का जैसा रसास्वादन उनके पठनीय इन स्वतंत्र लेखों में हो सकता है वैसा अन्यत्र नहीं। इनमें पण्डितजी ने प्रसंगानुकूल ऐसी रचना-चातुरी दिखाई है कि कहीं नसों में बिजली दौड़ जाती है तो कहीं पढ़नेवाले की हालत मन्त्रमुग्ध की सी हो जाती है; कहीं उसकी हँसी रोके नहीं रुकती तो कहीं आँखों से आँसुओं का प्याला छलक पड़ता है।

२—इस पुस्तक में प्रायः २० लेख ऐसे हैं जो प्राचीन तथा अर्वाचीन महापुरुषों की गुण-गाथा या संस्मरण हैं। इन लेखों की यथेष्ट प्रशंसा करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं। ऐसा विश्लेषण, ऐसा वर्णन, ऐसा चित्रण वास्तव में पण्डितजी की ही कलम का काम था।

३—उर्दू के महाकवि अकबर से पण्डितजी की घनिष्ठ मैत्री थी। अकबर इन्हें अपनी कविता का अनन्य मर्मज्ञ समझते थे और इनकी बड़ी इज्जत करते थे। दोनों के बीच बराबर पत्र-व्यवहार होता था। प्रस्तुत पुस्तक में पण्डितजी ने उन महाकवि के नाम पर चार आँसू बहाते हुए उनके पत्रों में से कुछ के अंश उद्धृत किये हैं। इन पत्रों का एक एक शब्द महत्त्वपूर्ण है। अकबर की कविता के प्रेमियों को उनसे परिचित होने का अवसर हाथ से जाने देना न चाहिये।

बानगी के रूप में हम नीचे कुछ लेखों के अंश उद्धृत किये देते हैं—

"भगवान् श्रीकृष्ण"—"आज दुःख दावानल से दग्ध भारत-

भूमि घनश्याम की अमृत-वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा-द्रौपदी रक्षा के लिये करुण स्वर में पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गति पर सिर धुनता हुआ 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिला कर प्रतिज्ञा-भंग की 'नालिश' कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंस के कष्ट-कारागार में पड़ी दिन काट रही है, गौएं अपने 'गोपाल' की याद में प्राण दे रही हैं, जान गँवा रही हैं।"

"पंडित श्रीसत्यनारायण कविरत्न":—"सत्यनारायणजी के कविता-पाठ का ढंग बड़ा ही मधुर और मनोहारी था·······पठ्यमान-गीयमान विषय का आँखों के सामने चित्र सा खिंच जाता था और वह हृदय-पट पर अङ्कित हो जाता था। सुनते सुनते तृप्ति न होती थी। कविता सुनाते समय वह इतने तल्लीन हो जाते थे कि थकते न थे। सुनाने का जोश और स्वर-माधुर्य्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। उच्चारण की विस्पष्टता, स्वर की स्निग्ध गंभीरता, गले की लोच में सोज और साज तो था ही, इसके सिवा एक और बात भी थी जिसे व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं मिलते। किसी शाइर के शब्दों में यही कह सकते हैं:—

'ज़ालिम में थी इक और बात इसके सिवा भी'

"अमीर खुसरो":—"बुलबुल का रोना गाना फ़ारस में कुछ अर्थ रखता है, पर यहाँ की बुलबुल में वह बात कहाँ? फिर भी यहाँ की फ़ारसी-उर्दू की कविता बुलबुल के तरानों से भरी पड़ी है। इस प्रसंग में·····स्वर्गीय मौलाना आज़ाद ने फ़ारस की बहार (वसंत) का वर्णन करते हुए लिखा है:—

"फ़ारस में घरों में नीम कीकर के दरख्त तो हैं नहीं, सेब,

नाशपाती, बिही, अंगूर के दरख्त हैं, चाँदनी रात में (बुलबुल) किसी टहनी पर आन बैठती है और इस जोश व खरोश से बोलना शुरू करती है कि रात का काला गुंबद पड़ा गूँजता है, वह बोलती है और अपने ज़मज़मे में तानें लेती है, और इस ज़ोर शोर से बोलती है कि बाज़ मौक़े पर जब चहचह करके जोश व खरोश करती है तो यह मालूम होता है कि इसका सीना फट जायगा। अहले-दर्द के दिलों में सुन कर दर्द पैदा होता है और जी बेचैन हो जाते हैं।"

"यह है फ़ारस की बुलबुल का हाल, जिसका बयान वहाँ की बहार (वसंत) के मुनासिब हाल है, हिन्दोस्तान में ऐसी बुलबुल किसी ने कहीं देखी है! यहां जो चिड़िया बुलबुल के नाम से मशहूर है उस ग़रीब पर तो किसी का यही शेर सादिक़ आता है—

'मालूम है हमें सब बुलबुल तेरी हक़ीक़त;
'एक मुश्त उस्तख्वां हैं, दो पर लगे हुए हैं।'
(एक मुश्त उस्तख्वां = एक मुट्ठी हड्डियां)

"महाकवि अकबर":—"मुझे उनकी क़दामत-पसन्दी (अपनी प्राचीन संस्कृति में आस्था) बहुत पसन्द थी। इस पर अकसर बातें होती थीं और बहुत मज़े की बातें होती थीं। अब याद आती है तो दिल थाम कर रह जाता हूँ। एक बार की मुलाक़ात में मुझ से पूछा—तुमने अपने लड़के को क्या तालीम दिलाई है? मैंने कहा—संस्कृत पढ़ाई है। सुन कर बहुत ही खुश हुए और उठ कर मेरी पीठ ठोंकी। इसी सिलसिले में बातें करते करते कुछ सोचने लगे, मैं ताड़ गया कि इस प्रसंग की कोई सूक्ति सोच

रहे हैं जो इस वक्त याद नहीं आती। मैंने कहा, आपका एक शेर है, इसी की तलाश तो नहीं हो रही ?—

'बदन में रूह आजाती है जब वे-गोरी रंगत के,
तो बे-इङ्गलिश पढ़े रोटी भी मिल सकती है नेटिव को।'

सुन कर फड़क गये और फिर उठ कर मेरी पीठ थपकी। कहा—शाबाश ! मैं इसी शेर को सोच रहा था, जो ज़हन से उतर गया था। आप कैसे समझ गये कि मैं इसीकी तलाश में हूँ। सचमुच इस वक्त आपको इलहाम हुआ है"—

स्वतंत्र, आर्य्यमित्र, मिलाप, लीडर, भारत आदि पत्रों ने तथा कितने ही मार्मिक विद्वानों ने पुस्तक की भरपूर प्रशंसा की है। सुप्रसिद्ध मासिक-पत्र 'विशाल-भारत' में इस पर एक लेख निकल चुका है। प्रयाग विश्वविद्यालय के अँगरेजी-साहित्य के अध्यापक प्रोफेसर अमरनाथ झा एम० ए० लिखते हैं:—

"Of Padma-Parag I need only say that it will be an abiding part of literary criticism. I am truly glad to possess it."

और भी ऐसी ही कितनी ही सम्मतियाँ हैं जिन्हें हम स्थानाभाव के कारण यहाँ उद्धृत नहीं कर सकते।

इस पुस्तक-माला का प्रवेश-शुल्क ॥) है।

स्थायी ग्राहकों को सभी पुस्तकें नियमानुसार पौन मूल्य पर मिलेंगी।

हमारे यहाँ हिन्दी के सभी नामी प्रकाशकों की पुस्तकें

मिलती हैं। स्टेशनरी इत्यादि का भी बड़ा स्टाक हर घड़ी मौजूद रहता है।

हमारे यहाँ से शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली कुछ पुस्तकें—

(१) दीपावली (पंडित भगवती प्रसादजी बाजपेयी की चुनी हुई कहानियों का संग्रह)

(२) चित्रपट (यह भी सुन्दर भावपूर्ण कहानियों का संग्रह है। इसके लेखक श्रीयुत शम्भू दयाल सकसेना साहित्यरत्न हैं)

(३) स्वामी शंकराचार्य्य (लेखक—पंडित जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, बी० ए०, बी० एल)

(४) साम्यवाद के आचार्य्य कार्ल मार्क्स (लेखक—श्रीसत्यभक्त)

(५) जीवनमरण (उपन्यास—फ्रेंच से अनुवादित)

(६) कथा-रहस्य (लेखक—श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बक्षी, भूतपूर्व 'सरस्वती'-संपादक)

(७) भारतवर्ष का इतिहास (लेखक—विश्वविख्यात विद्वान् श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०, बैरिस्टर-एट-ला)

निवेदक—
भारती पब्लिशर्स, लिमिटेड
पटना।